समालोचक

सम्पादक डा. रामविलास शर्मा

आगरा, सितम्बर १९५८

'समालोचक' का अष्टम अङ्क आपके सम्मुख प्रस्तुत है। इसके प्रचार और प्रसार में स्वयं ग्राहक बनकर तथा अपने मित्रों को ग्राहक बनाकर हमें प्रोत्साहित कीजिए।

सब
गाँव के लिए
कनोई
की
गाँव छाप
बुकनी चाय!
Kanoi
Tea
कनोई टी
कनोई टी • पोस्ट बक्स ९८२ • कलकत्ता-१

१९५७-५८ के नये प्रकाशन तथा पुनर्मुद्रण

नये प्रकाशन

मेरी कालिज डायरी	—डा० धीरेन्द्र वर्मा	१-५०
हिन्दी नाटक	—डा० बच्चन सिंह	४-००
नयी कविता	—श्री विश्वम्भर मानव	४-००
लोक साहित्य की भूमिका	—डा० कृष्णदेव उपाध्याय	७-५०
सूरदास और भगवद्भक्ति	—डा० मुंशीराम शर्मा	४-००
बौद्ध साहित्य की सांस्कृतिक झलक	—श्री परशुराम चतुर्वेदी	२-५०
स्वप्न भंग	—श्री प्रभाकर माचवे	२-००
क्या यही सभ्यता है ?	—श्री माइकेल मधुसूदन दत्त	१-५०
रूपलक्ष्मी : अंबपाली	—श्री कृष्णचन्द्र 'भिक्खु'	१-५०
पुराणों की अमर कहानियाँ	—श्री रामप्रताप शास्त्री	२-५०
जानवरों की पौराणिक कहानियाँ	—श्री राममूर्ति मेहरोत्रा	१-२५
गा ले मुन्ना	—शकुन्तला सिरोठिया	१-२५
प्राचीन बाल-क्रीड़ा	—श्री मन्मथराय	१-२५
इस देश का राजा मैं	—श्री युगल	१-००

पुनर्मुद्रण

ऋतम्भरा	—डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या	३-५०
मध्यकालीन प्रेम-साधना	—श्री परशुराम चतुर्वेदी	३-५०
रश्मि	—श्रीमती महादेवी वर्मा	३-००
वीर सतसई	—श्री वियोगी हरि	१-२५
वर्षान्त के बादल	—श्री अंचल	३-००
संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो	—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी	४-००
बृहत् सन्त कबीर	—डा० रामकुमार वर्मा	१०-००
संस्कृति संगम	—आचार्य क्षितिमोहन सेन	३-००
कला और संस्कृति	—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल	५-००
मरु प्रदीप	—श्री रामेश्वर शुक्ल अंचल	४-००
गुनाहों का देवता	—डा० धर्मवीर भारती	५-००
सूरज का सातवाँ घोड़ा	—डा० धर्मवीर भारती	२-००
हिन्दी कहानियाँ	—डा० श्रीकृष्णलाल	२-००
जानवरों की ऐतिहासिक कहानियाँ	—श्री राममूर्ति मेहरोत्रा	१-२५
बिगुल	—श्री सोहनलाल द्विवेदी	१-५०

साहित्य भवन प्राइवेट लि०, इलाहाबाद

समालोचक के नियम

१—'**समालोचक**' प्रत्येक मास की पहली तारीख को प्रकाशित होता है।

२—'**समालोचक**' के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं। यदि ग्राप '**समालोचक**' की पिछली प्रतियाँ (फर्वरी १६५८ से) मंगाना चाहें तो कृपया १) अतिरिक्त रजि० डाक व्यय के लिए भेज दें।

३—महीने की १० तारीख तक '**समालोचक**' न मिलने पर पन्द्रह दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्ट आफिस के उत्तर सहित भेजनी चाहिए, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जाएगी।

४—किसी तरह का पत्र-व्यवहार अपने पूरे पते और ग्राहक-संख्या के साथ होना चाहिए।

५—फुटकर अङ्क मंगाने पर प्रत्येक अङ्क का मूल्य आठ आना होगा।

६—'**समालोचक**' में कविता, कहानी, रेखाचित्र, नाटक आदि नहीं छपते। **केवल आलोचना-विषयक लेख ही छापे जाते हैं।** अस्वीकृत लेख वापस कर दिए जाते हैं।

७—लेख की स्वीकृति और अस्वीकृति में सम्पादक-मण्डल का निर्णय अन्तिम होगा। स्वीकृत लेखों में परिवर्तन, परिवर्द्धन एवं संशोधन का अधिकार सम्पादक-मण्डल को होगा।

८—'**समालोचक**' में प्रत्येक विचारधारा के लेख प्रकाशित किए जाते हैं।

९—रिव्यू-लेखक और लेखक के विचारों के साथ सम्पादक-मण्डल का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

१०—'**समालोचक**' का वार्षिक मूल्य ५) तथा एक अङ्क का आठ आना है। अलग से विशेषांक का मूल्य २) होगा। वार्षिक ग्राहकों को विशेषाङ्क निःशुल्क मिलेगा।

११—वी. पी. से अङ्क मंगाने वालों को १) अतिरिक्त देना पड़ेगा।

पता—व्यवस्थापक, 'समालोचक',

१२१६ बागमुजफ्फरखाँ, आगरा।

ग्राहकों को आवश्यक सूचना

१. '**समालोचक**' प्रत्येक मास की पहली या दूसरी तारीख को डाक से रवाना कर दिया जाता है। प्रत्येक ग्राहक की प्रति खूब सावधानी से कई बार जाँच कर भेजी जाती है। यदि आपको अपनी प्रति प्राप्त न हो तो कृपया अपने डाकघर से जवाब तलब करें।

२. पत्र-व्यवहार करते समय कृपया अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखें। ग्राहक नम्बर पते के साथ ही रैपर पर लिखा होता है।

३. जो ग्राहक प्रारम्भ के अङ्कों से ग्राहक बनना चाहें वे १) रजिस्ट्री आदि व्यय को अधिक भेजें क्योंकि पिछले अङ्क रजिस्ट्री से भेजे जाते हैं।

४. नमूने की प्रति के लिए ५० नये पैसे के डाक टिकट भेजना आवश्यक है।

विषय-सूची

—:०००:—

समालोचक

[हिन्दी का प्रतिनिधि आलोचनात्मक मासिक-पत्र]

प्रधान सम्पादक

डा० रामविलास शर्मा

सम्पादक

राजनाथ शर्मा : विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

वार्षिक मूल्य ५)]

[एक प्रति : ५० नये पैसे

प्रथम वर्ष | आगरा, सितम्बर १९५८ | अंक ८

सम्पादकीय

प्रयोगवाद: अहं और यथार्थ

हिन्दी भाषा को जितना समृद्ध प्रयोगवादी कविता ने किया है, उससे ज्यादा समृद्ध उसे नयी कविता के समर्थन में लिखी हुई आलोचना ने किया है। हिन्दी कविता का पाठक चाहे वह प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी वर्मा का प्रेमी रहा हो, चाहे दिनकर, बच्चन, सुमन और नरेन्द्र की रचनाओं को प्यार करता हो, चाहे उसने नीरज और वीरेन्द्र मिश्र जैसे कवियों के गीतों में रस लिया हो, अथवा वह इन सभी से कुछ न कुछ साहित्यिक आनन्द पाता रहा हो, "नयी कविता" से वह दूर भागता है। इसलिये आलोचना की लाठी से बार-बार हांक कर उसे इस अप्रिय अनास्वाद्य प्रयोगशील काव्य-वस्तु की ओर लाना आवश्यक होता है। नयी कविता के लिये (उसके विरोध में नहीं, समर्थन में) यह दावा भी किया जाता है कि वह बौद्धिक है। इसलिये भी पाठक की बुद्धि में आलोचना द्वारा ही यह बात बिठाई जा सकती है कि जिसे वह कविता समझने से इन्कार करता है, वह कविता ही है और वास्तव में कविता तो बस वही है।

अभी तक नयी कविता की व्याख्या करते हुए कुछ लेख अज्ञेय-सम्पादित "प्रतीक", भारती-सम्पादित "आलोचना", "नयी कविता" तथा कुछ अन्य पत्रिकाओं में देखने को मिले थे। अब इस कविता को लेकर

एक वृहद् शास्त्र भी प्रकाशित हो गया है। उसके दो सौ बानवे पृष्ठों में कही हुई बातें बानवे पृष्ठों में भी आसानी से कही जा सकती थीं किन्तु जब कविता में एक ही बात पचास बार कही जाती है तो आलोचना ही इस नियम का अपवाद क्यों हो? आयाम-प्रतिमान और परिप्रेक्ष्य वाली भाषा में लिखे हुए ग्रन्थ का वैसे ही रोब पड़ता है; बात घुमा-फिरा कर बारबार कही जाय तो और भी पुरअसर हो जाती है, यह तथ्य श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा लिखित "नयी कविता के प्रतिमान" से आपको भली भाँति अवगत हो जायगा।

अभी तक प्रयोगवाद को लोग कुंठावाद, पराजयवाद, पलायनवाद, साहित्यिक अराजकतावाद का पर्याय समझा करते थे। यह कहने वाले कम थे कि वह सामाजिक संघर्ष का साहित्य है, उसकी मूलधारा क्रान्तिकारी और यथार्थवादी है और वास्तविक अर्थ में प्रगतिशील साहित्य वही है। अधिक से अधिक अपनी कुंठा और घुटन के बारे में कवि यही कहते थे: हम मध्यवर्ग में पैदा हुए हैं; जीवन में कुंठा और घुटन भी है, फिर वह साहित्य में क्यों न आये? इसके लिये वे विदेशी कवियों का हवाला भी देते थे कि अगर विलायत के कवि उलटबाँसियों में रोते-झींकते हैं, तो उनके भारतीय शिष्यों को हिन्दी में सिसकने की स्वाधीनता क्यों न हो? यथा श्री धर्मवीर भारती ने "साहित्य की नयी मर्यादा" नाम के निबन्ध में लिखा था, "आज की व्यापक सांस्कृतिक रुग्णता में यह दासत्व भावना और प्रगति-विरोधी निष्क्रियता बहुत सहज संभाव्य है, क्योंकि टी० एस० इलियट के शब्दों में हमारा हृदय हम से अलग जा पड़ा है और हमारा दिमाग प्याज़ के छिलकों की तरह उतर गया है—क्योंकि हम एक अज्ञात भय से आकुल हैं जिससे हम आँख नहीं मिला सकते।" लेकिन अब प्याज़ के छिलके सोचने लगे हैं और उनका दावा है कि उनसे ज्यादा क्रान्तिकारी चिन्तन न मार्क्स ने किया है, न लेनिन ने और इस नये चिन्तन के आधार पर एक नयी दुनिया बसाने का समय अब आ गया है!

श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा का दावा है कि यथार्थ जीवन से छायावाद और प्रगतिवाद दोनों बचते थे; यथार्थ से आंखें चार करने का श्रेय प्रयोगवाद को है। हिन्दी काव्य-जगत् की इस ऐतिहासिक घटना के बारे में उन्होंने लिखा है, "छायावादी इस यथार्थ को भोगने की अपेक्षा इसे त्याज्य समझता था, इसलिये उसने यथार्थ से पृथक् कल्पनायें गढ़कर यथार्थ की अवहेलना करने को सबसे बड़ा मूल्य मान लिया था। प्रगतिवादी यथार्थ के नाम पर सम्प्रदायिक तत्वों की संकीर्णताओं में उलझ गया था, इसलिए उसमें भी यथार्थ का साक्षात्कार न कर उसे वहन करने अथवा भोगने की क्षमता नहीं थी। इन दोनों से पृथक् नयी कविता ने इस यथार्थ को उसके औचित्य के साथ स्वीकार किया!"

नयी कविता की यह यथार्थ-संबन्धी उपलब्धि इतनी चमत्कारी है कि स्वयं श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा ने अपने वाक्य के अन्त में एक आश्चर्यचिन्ह लगा दिया है! साधारण पाठकों को उस पर आश्चर्य हो तो उनकी भावना के औचित्य को भी स्वीकार करना होगा।

वह यथार्थ कौन सा है जिसे नयी कविता वहन या सहन करती है? उत्तर है, "जीवन और उसके सत्य सबसे बड़े यथार्थ हैं।" और जीवन का सत्य क्या है? "जीवन निस्सार नहीं, जीने के लिए है, उसे जिया जा सकता है, उसे भोगा जा सकता है, उसके साथ मनुष्य हो कर मनुष्य के स्तर पर अनुभूतियों को ग्रहण किया जा सकता है और उनसे ओतप्रोत होकर जीवन की व्यापकता में सौन्दर्य, रस, आनन्द, बोध, अनुबोध के स्तरों को ग्रहण किया जा सकता है—यही नहीं उन्हें स्वीकार भी किया जा सकता है।"

क्या प्रयोगवादियों से पहले भी किसी ने इस बात को समझा था कि जीवन जीने के लिये है? एक छायावादी काव्य-पुस्तक में पढ़ा था,

तप नहीं केवल जीवन सत्य
करुण यह क्षणिक दीन अवसाद;
तरल आकांक्षा से है भरा
सो रहा आशा का आह्लाद।

संभवतः यहाँ जीवन से पलायन करने का उपदेश दिया गया है ! उस पुस्तक में यह भी लिखा है,

अपने दुख-सुख से पुलकित
यह मूर्त विश्व सचराचर;
चिति का विराट् वपु मंगल
यह सत्य सतत चिर सुन्दर।

यहाँ शायद संसार को नश्वर मानकर वैराग्य लेने का उपदेश दिया गया है ! शायद छायावादी कविता में न सौन्दर्य है, न रस है, न आनन्द है ! इन सबका आविष्कार सबसे पहले प्रयोगवादियों ने और उनमें भी श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा ने किया है !

कठिनाई यह है कि पाठकों को नयी कविता में न रस मिलता है न आनन्द, न उसमें उन्हें सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। क्या यह कहना उचित न होगा कि प्रयोगवादी कविता में मूलतः जीवन की अस्वीकृति है, उसके रचयिताओं के लिये जीवन निःसार है, इसीलिये निरुद्देश्य होकर वे रोते सिसकते हैं, उन्हें सुन्दर की अपेक्षा वीभत्स, रस की अपेक्षा नीरसता, आनन्द की अपेक्षा कुढ़न और घुटन तथा बोध-अनुबोध की अपेक्षा अबोध और दुर्बोध शब्दजाल से ही अधिक प्रेम है ? यदि ऐसा न होता तो नीरसता, कुंठा, अहंवाद, लयहीन बेतुकी रचनाओं की इतनी वकालत करने की जरूरत न पड़ती।

आप विश्वास करें चाहें न करें, लक्ष्मीकान्त जी परम आत्मविश्वास से कहते हैं कि "आशा का स्वरूप हिन्दी कविता में नयी कविता के पूर्व छिछले उल्लास में ही व्यक्त होता हुआ मिलता है।" गहरे उल्लास के साथ आशा का स्वरूप अब व्यक्त होरहा है। कितने उल्लास से प्रयोगवाद के जनक ने लिखा था,

मैं ही हूँ वह पदाक्रान्त रिरियाता कुत्ता।

मनुष्य होकर मनुष्य के स्तर पर अनुभूतियों को यों ग्रहण किया गया है कि रिरियाते कुत्ते और कवि का भेद-भाव ही मिट गया है। एक अन्य उदाहरण लीजिये—

बाल बिखरे
गाल पिचके
निष्प्रभ
क्लान्त
आदि से अन्त तक
केवल अतुकान्त
श्रीमान्
श्रीयुत
श्री लक्ष्मीकान्त।

अपने को निष्प्रभ और क्लान्त देखकर कवि को कितनी प्रसन्नता होती होगी, इसकी साधारण जन कल्पना नहीं कर सकता। यह नहीं कि शरीर में ही घुन लगा हो और भीतर आत्मा आस्था के मारे दमक रही हो। भीतरी दुनिया की हालत और भी खस्ता है।

"निकष" (तीसरे और चौथे संयुक्त संकलन) में प्रकाशित एक कविता यों आरंभ होती है :

मेरी कुंठा
रेशम के कीड़े सी ताने-बाने बुनती
स्वर से, शब्दों से, भावों से
और, वाणी से कहती-सुनती
तड़फ तड़फ कर बाहर आने को सिर धुनती
गर्भवती है—
मेरी कुंठा क्वारी कुन्ती ?
बाहर आने दूँ तो लोकलाज मर्यादा
भीतर रहने दूँ तो घुटन
सहन से ज्यादा
मेरा यह व्यक्तित्व
सिमटने पर आमादा

व्यक्तित्व के सिमटने के बारे में आदि प्रयोगवादी शेखर पर उसके रचयिता का लिखा यह हुआ वाक्य याद कर लीजिये : "जिस प्रकार घोंघे के भीतर रहने वाला जीव तभी बाहर निकलता है, जब वह भूखा होता है या जब वह प्रणयी खोजता है, और तृप्त होकर फिर घोंघे के भीतर घुस जाता है, उसी प्रकार असंतुष्ट और अतृप्त शेखर भी बाहर निकला हुआ था।" नयी कविता के यथार्थवाद का मूलसूत्र इस वाक्य में मिल जाता है।

वैसे घोंघा गद्य के लिये ठीक है; कविता में सीपी की उपमा ज्यादा सार्थक होगी, यथा—

सीपियाँ...............

यह गन्ध-दूषित
मुख-विवर जो किरकिराते रेतकन से
अचकचा कर अधखुला ही रह गया है।

ये सीपियाँ "अपनी घुटन का ले सहारा" मुक्त होना चाहती थीं। किससे ? "निस्सीम सागर से" ! उसी तरह प्रयोगवादी कवि अपने मर्दित अहं को समाज से, परिवार से, समस्त मानव-संबन्धों से मुक्त करना चाहता है। लेकिन मुक्त कैसे हो ? कुंठावली कविता देखिये। कुंठा "तड़फ-तड़फ" कर बाहर आने को सिर धुनती है। साथ ही स्वयं भी गर्भवती है। नतीजा यह कि न भीतर रह सकती है और न बाहर आसकती है। इसलिये कवि का व्यक्तित्व सिमटने पर आमादा हो जाता है। शायय सिमट नहीं पाता; इसलिये घोंघे सा या सीपी सा गन्ध दूषित मुख-विवर खुला ही रह जाता है।

निकष (नं० २) में छपी एक कविता देखिये :

सूनी, अंधेरी यह हृदय की गुहा—
बन्द, चारों ओर चट्टानें उठीं, संस्कार की
भाव मन के कुलबुलाते जीव
ज्योति और वातहीन क्षुद्र परिधि में
रेंगते ज्यों गिलगिले अन्धे, मिट्टीखोर केंचुए।
धूप का न नाम है, न नाम हरियाली का।
दुर्गन्ध कड़वी और तीखी सड़ी प्याज़ सी
आकांक्षाओं के छाया प्रेत
न-कुछ में बनते और मिटते
भयंकर अ-यथार्थ
स्वार्थ, स्वार्थ।

दुर्गन्ध से भरा हृदय-कूप, केंचुए जैसे बिलबिलाते भाव, आकांक्षाओं के छायाप्रेत, यह अ-यथार्थ ही प्रयोगवाद का यथार्थ है उसका पर्यायवाची दूसरा शब्द है स्वार्थ !

रस, आनन्द, उल्लास, आशा और यथार्थ की बात छोड़ कर पता लगाना चाहिए, इस अयथार्थ निराशा और नीरसता का कारण क्या है। इस प्रश्न का उत्तर भी श्री लक्ष्मीकान्त की पुस्तक में मिल जायगा। नयी कविता ने व्यक्तित्व का अन्वेषण किया है अर्थात् कवि के अहं का। यथार्थ के नाम पर उसके पास अहं के अलावा और कुछ नहीं है। लक्ष्मीकान्त जी के अनुसार अहंवाद और सामाजिक दायित्व में परस्पर वैर नहीं है। कहना चाहिये कि जो जितना ही अहंवादी होता है, वह उतना ही सामाजिक दायित्व भी वहन करता है। "अहम्‌वादी होना दोष नहीं। अहम् विकृति नहीं है। इसके विपरीत अहम् प्रकृति है, इसलिए कि वह अपने अस्तित्व का समर्थन है।" अमरीकी, अंग्रेज और फ्रान्सीसी व्यक्तिवादियों के निरपेक्ष व्यक्ति का हिन्दी रूप यह अहं है। इस अहं से पूछिये, "को हैं माता पिता तुम्हारे ?" किस भाषा में तुमने शिक्षा पायी ? कौन तुम्हारे लिये अन्न पैदा करता है, वस्त्र बनाता है ? समाज जिन वर्गों में बंटा हुआ है, उनमें तुम किसके सदस्य हो ? ऐसा तो नहीं है कि अपने अहं की जड़ें तुमने "कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम" के कंपाउंड में गाड़ रखी हैं ? इन प्रश्नों का उत्तर लक्ष्मीकान्त जी के यहाँ नहीं हैं। उन्होंने छायावाद और प्रगतिवाद को जीभर कोसने के बावजूद एक अकल्पित, अयथार्थ, न-भूतो-न-भविष्यति, निरपेक्ष व्यक्ति की रचना करके एक अभिनव रहस्यवाद की सृष्टि कर डाली है। अन्वेषण का चरम लक्ष्य यह अहम् कभी शिलाखंडों से दबा हुआ निर्झर होता है जो कहता है—

तुम दोगे जो मैं सहूँगा।

रवीन्द्रनाथ का निर्झर स्वप्न भंग करके बह चला था; यह अभिनव रहस्यवादी निर्झर केवल भारवाहक है। उसे कब शब्द मिलेंगे, कब वह मुंह खोलेगा—और मुंह खुलने पर बोलेगा भी या मुंह बाये ही खड़ा रहेगा—यह कोई नहीं कह सकता। कभी वह अकेला स्नेहभरा दीप है; शायद स्नेह अपने अकेलेपन से ही है। जो भी हो, यथार्थवाद के नाम पर रहस्यवाद की फीक

(शेष पृष्ठ ३१ पर)

नई कविता में 'इमेजरी' का प्रयोग

डा० हरद्वारीलाल शर्मा

(१)

गद्य से लेकर गीत तक, साहित्य जो भी रूप धारण करे, उसमें 'अर्थ' होना अनिवार्य है। निरर्थक शब्दों के संकलन में 'साहित्य' होने की योग्यता नहीं होती। 'अर्थ' मन या बुद्धि का 'आलोक' है। कलात्मक साहित्य में यह अर्थ केवल 'आलोक' का ही नहीं, 'प्रभाव' का भी सृजन करता है। प्रश्न यहाँ यह है कि अर्थालोक किस प्रकार कलात्मक प्रभाव को उत्पन्न करता है ? आधुनिक विज्ञान यह स्वीकार करता है कि हमारे सूक्ष्मतम विचार भी किसी स्थूल, मनोग्राह्य, ऐन्द्रिय-गुणों से युक्त आधार (Sensory basis) पर उठते हैं। 'अमूर्त्त' कहे जाने वाले विचार के तल में भी स्पष्ट या अस्पष्ट, निश्चित या अनिश्चित, मानस-मूर्त्ति रहती है, जिसमें रूप, रंग, स्पर्श, गति आदि गुण रहते हैं। विज्ञान में इन मनोमूर्त्तियों का विशेष प्रयोजन और महत्त्व न होने से हम इनकी चिन्ता नहीं करते। साहित्य इससे बहुत दूर है : इसमें तो साहित्यिक कलाकार की सहज प्रतिभा अर्थों में रंग, रूप, गति, गन्ध, स्पर्श, रस आदि को भरती है जिससे वे न केवल ग्रहण किये जा सकें, अपितु वे अर्थ शरीरी और सजीव होकर गम्भीर वेदना भी उत्पन्न कर सकें। संक्षेप में, अर्थों में मूर्त्तापादन साहित्य-सृजन के लिये आवश्यक है। कविता गम्भीर अनुभूतियों को शब्दार्थ के माध्यम से मूर्त्तित करने का प्रयत्न है। स्पष्ट है कि कविता में 'इमेजरी' का प्रयोग स्वाभाविक है। समृद्ध व स्पष्ट, पुष्ट व मांसल, विविध व विचित्र, मनोरम मनोमूर्त्तियाँ काव्य-चेतना को 'वहन' करती हैं जिस कारण काव्य-सृष्टि में अनेकों रंग, रूप, असंख्य संगीत की ध्वनियाँ, स्पर्श, गन्ध, रस, तथा शरीर में स्नायविक तरङ्ग उठाने वाली अनेक गतियों का उन्मेष होता है। मानना होगा कि कविता में 'इमेजरी' का अध्ययन काव्यालोचन के लिये उपयोगी होगा।

युग-चेतना काव्य-चेतना को अपना रंग-रूप देती है। युग-चेतना स्वयं कुछ केन्द्रीय मूल्यों पर आश्रित होती है जो वर्त्तमान इतिहास की आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक शक्तियों से निःसृत होते हैं। 'नई कविता' इसी युग-चेतना से प्रभावित काव्य-साहित्य को मानना चाहिये। यह कविता साधारणतया तरुण कवियों का उद्गार है जिन्होंने जीवन के नूतन मूल्यों और मानदण्डों का आविष्कार किया है, और, जीवन के विकास के लिये अपूर्व दिशाओं तथा अन्तरालों का उद्घाटन किया है। जो भविष्योन्मुखी दृष्टि नहीं रखता, बुढ़ापे के कारण या मनोवृत्ति के बुढ़ियाने के कारण, वह 'नई कविता' नहीं रच सकता, चाहे वह प्रतिभा के बल से उत्तम काव्य बना सके। 'नूतन' कहे जाने वाले मूल्य व मानदण्ड, जैसे, व्यक्ति की स्वतंत्रता, रूढ़ियों से मुक्ति, समानता, विश्व-बन्धुत्व, जीर्ण नैतिक व धार्मिक आदर्शों से छुटकारा पाने की इच्छा, इत्यादि अनेक प्रतीत होते हुए भी एक ही आधारभूत, व्यापक भावना से निकले हैं, और, वह भावना है आधुनिक 'मानवता'। युग-चेतना 'मानवता' (Humanism) के रूप में आज घनीभूत हुई है। यही युग-चेतना का केन्द्रीभूत प्रतीक है, जीवन और जगत् के, समाज और देशों की अनेकविध व्यवस्थाओं के, केन्द्र में आज 'मानव' है, मानो अभी ही मनुष्य ने अपने को पहचाना है। युगों तक वह देवत्व की प्राप्ति के लिये जन्नत और वैकुण्ठ की खोज करता फिरा है, और, ''ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'', 'सर्वमेव दुःखं विवेकिनाम्' के वाक्यों ने उसे भरमाया है। आज मानो वह समझा है कि 'जगत् सत्यं ब्रह्म मिथ्या' है। नूतन कवि का उद्गार सुनिये :—

क्या कहा ? 'सत्य बस ब्रह्म और सब मिथ्या है,
यह सृष्टि चराचर केवल छाया है, भ्रम है,
है सपने सा निस्सार सकल मानव-जीवन,
यह नाम-रूप-सौन्दर्य अविद्या है, तम है ?

मानना होगा कि युग-चेतना अतएव काव्य-चेतना का सम्पूर्ण आलोक आज भक्ति, वैराग्य, मुक्ति की इच्छा, अथवा भाग्यवानों के वैभव-विलास, उनकी युद्ध-क्रीड़ा, काम-क्रीड़ा, आदि को छोड़ कर मानव और उसकी मानवी समस्याओं को प्रकाशित कर रहा है। प्रस्तुत लेख में हम इसी केन्द्रीय 'मानव' प्रतीक के लिये सृजित 'इमेजरी' का अध्ययन करेंगे ! इस 'इमेजरी' द्वारा 'मनुष्य' का रूप, आकार, उसके विकार आदि उपस्थित किये गये हैं। संक्षेप में, हम उस इमेजरी का अध्ययन करेंगे जिसके द्वारा मनुष्य के आध्यात्मिक या दिव्य रूप की नहीं, उसके मानवीय स्वरूप की परिभाषा की गई है और वह है काव्यात्मक भाषा !

काव्य युग के केन्द्रीय प्रतीक को स्वीकार कर 'अपने' क्षेत्र में प्रवेश करता है। अनादि काल से आज तक काव्य-चेतना का बड़ा अंश वेदना व विषाद के रूप में मूर्त्तिमान् हुआ है। वैदिक काव्य में वेदना का स्वरूप 'देवत्व' प्राप्ति की उत्कट कामना है : देवत्व के साथ दिव्य भोगों का सम्बन्ध है। प्रत्येक युग अपनी काव्यात्मक अभिव्यक्ति के लिये वेदना को विशिष्ट स्वरूप देता है। रामायण, महाभारत, बुद्ध काव्य और कला, इसके अनन्तर वीर, प्रेम, भक्ति और विरह के काव्यों में 'वेदना' का अपना निजी रूप है। हम नई कविता में नवयुग की विषमताओं से उत्पन्न वेदना की अभिव्यक्ति के लिये प्रयुक्त 'इमेजरी' का अध्ययन करेंगे।

केवल वेदना, स्यात्, काव्य के लिये उपयुक्त नहीं। विषाद में 'आशा और उल्लास' का संचार जीवन में सन्तुलन लाने के लिये आवश्यक है। न केवल इतना ही, आशा और उल्लास के साथ नव-निर्माण के लिये 'उत्साह' भी चाहिये। काव्य केवल आशा के लिये 'भविष्यत्' का 'नक्शा' ही नहीं उपस्थित करता, वह उसके उदय के लिये 'उत्साह' का सृजन भी करता है। प्रस्तुत लेख में विषाद और वेदना, आशा और उल्लास तथा उत्साह को मूर्तिमान् करने के लिये सृजित मनोमूर्त्तियों की प्रस्तावना है। हम इसके द्वारा युग की वाणी को समझेंगे और साथ ही अपने ही अन्तर में लहराती हुई अनुभूतियों और वर्त्तमान सामाजिक समस्याओं को भी।

विज्ञान और दर्शन हमारी आन्तरिक और बाह्य समस्याओं का सुलझाव बुद्धि के स्तर पर देते हैं। इस सुलझाव का महत्त्व है। किन्तु वस्तुत: जीवन में उलझनों का स्रोत बुद्धि नहीं भावना है। हम किसी बात को बुद्धि से समझ कर भी हृदय से मानने को तैयार नहीं होते। काव्य और कला भावना के स्तर पर जीवन की उलझनों का सुलझाव करते हैं, समस्याओं का समाधान उपस्थित करते हैं। इसी कारण कला से जो सुख मिलता है वह सामञ्जस्य का सुख (peace of harmony) होता है। विविध और विरोधी तत्त्वों में एकतानता, एकसूत्रता, एकांगिता स्थापित करना कला का चरम प्रयोजन है। काव्य-साहित्य कलात्मक उद्देश्य रखने के कारण जीवन के अनेक अनुभवों को समञ्जस बनाता है। पुष्ट काव्य जीवन के अनेक अर्थों में समन्वय उपस्थित करता है। नई कविता में हम 'समन्वय' की खोज करेंगे और इस समन्वय की मनोमूर्त्तियों का पता लगायेंगे। इस प्रयत्न से एक ओर काव्यालोचन होगा और दूसरी ओर कवियों द्वारा प्रस्तुत समस्याओं के समाधान के ऊपर विचार-विमर्ष।

आज का कवि 'अपने' विषय में जितना संज्ञावान् और सचेत है, उतना स्यात् कभी नहीं रहा, अपने ही नहीं, अपने 'मिशन' के बारे में भी आज उसकी चेतना तीखी है। काव्य-कला के लिये यह स्थिति दुष्परिणाम उत्पन्न करे या न करे, किन्तु नवोदय और युग-सन्धि के काल में यह स्वाभाविक है। कवि 'अहं' की परिभाषा करने में लगा है। उसकी भाषा में एक ओर दार्शनिक के पारिभाषिक शब्द हैं तो दूसरी ओर राजनीतिज्ञों, समाज-सुधारकों के मतवाद। विज्ञान-युग के स्वर में स्वर मिलाकर कवि आज अपने देवत्व और

आध्यात्मिक स्वरूप का प्रतिवाद कर रहा है और मनुजत्व की श्रेष्ठता की स्थापना कर रहा है। फूल के व्याज से कवि कह रहा है :—

वह हँसा बोला : कि खुद को अन्य-हित
दान करना ही अरे अमरत्व है;
देवता के शीश चढ़ दिखला दिया,
श्रेष्ठतर देवत्व से मनुजत्व है।

(प्राणगीत)

आज 'निराकार' को जब आकार देने का प्रयत्न हुआ तो वह कवि स्वयं ही निकला :—

निराकार ! जब तुम्हें दिया आकार, स्वयं साकार होगया,
युग यूग से मैं बना रहा था मूर्त्ति तुम्हारी अकल-अलेखी,
आज हुई पूरी तो मैंने शक्ल खड़ी अपनी ही देखी,
लेकिन इससे भी बढ़कर अपराध कर गई पूजन-बेला,
तुम्हें सजाने चला फूल जो, मेरा ही शृंगार होगया।

(प्राणगीत)

'अहं' ही मनुष्य के लिये आज 'उपास्य' है। मनुष्य को किस दृष्टिकोण से देखना चाहिए ?

चल रहे हैं जो उन्हें चलके डगर से देखो,
तैरने वालों को तट से न, लहर से देखो,
देखना ही है जो इन्सान में भगवान् तुम्हें
आदमी को ही आदमी की नज़र से देखो !

(दर्द दिया है)

आज हमें 'सत्य' से भी प्रयोजन नहीं, क्योंकि सत्य स्थिर और अविकल है, जीवन तरल और गतिवान्। सत्य से जीवन की, अहं की परिभाषा सम्भव नहीं; सत्य जड़ है और ठंडा, जीवन चेतन है और गर्म; सत्य कूल बना सकता है किन्तु प्रवाह नहीं बन सकता। कवि द्वारा प्रस्तुत 'इमेजरी' में देखिये ! 'सत्य' से कहता है:—

तुम क्या घनत्व में बाँधोगे
द्रव की गति-प्रियता, चंचलता,
निर्मम जड़त्व में आँकोगे
जीवन की चेतन कोमलता !
तुम हो तुषार की शिला स्वयं
पल में जल में जाओगे गल,
शीतल प्रकाश ही नहीं सत्य
वह बन सकता है ताप प्रबल !
तुम बँध नियमों के कूलों में
बहते जाओ, इसमें मंगल,
तर्कों के रोड़ों से टकरा
बढ़ते जाओ, क्षण-फेन उगल !

(उत्तरा)

सत्य को 'तुषार की शिला' के रूप में, जीवन-प्रवाहिनी के कूलों के रूप में प्रस्तुत करना एक सुन्दर काव्यात्मक 'इमेजरी' का सृजन है जिसे हम नई कविता की देन मान सकते हैं।

देवत्व के निराकरण के लिये मनुष्य के पार्थिव (Earthy) पर बल दिया जारहा है। इसीलिये आज कवि 'मिट्टी की महिमा' गाता है।

सौ बार बने सौ बार मिटे लेकिन मिट्टी अविनश्वर है।

\+ +

रो दे तो पतझर आजाये, हँसदे तो मधुऋतु छाजाये,
झूमे तो नन्दन झूम उठे, थिरके तो ताण्डव शरमावे,

\+ +

पलने में प्रलय झुलाया है
गोदी में कल्प खिलाये हैं।

(पर आँखें नहीं भरीं)

यह 'मिट्टी' या पृथ्वी की महिमा के लिये भावाक्त प्रतिमा की सजीव सृष्टि है। इसी मिट्टी से, जो पुराने दार्शनिक के 'ब्रह्म' की भाँति 'अक्षर' और 'अविनश्वर' है, मनुष्य का परम सम्बन्ध है। कैसा सम्बन्ध ? कुछ काव्यात्मक प्रतिमाओं द्वारा इस सम्बन्ध की परिभाषा देखिये !

मृन्मय प्रदीप में दीपित हम
शाश्वत प्रकाश की शिखा सुषम,
हम एक ज्योति के दीप अखिल

ज्योतित जिससे जग का आँगन !
हम पृथ्वी की प्रिय तारावलि,
(पल्लविनी)

विरागी कबीर की 'माटी' आज अक्षर ब्रह्म की महिमा से सम्पन्न है। यह 'तन' घृणित नहीं है और न यह 'अनित्यमसुखं लोकं' त्यागने के योग्य वस्तु है क्योंकि इनमें मानव-सौन्दर्य समाया हुआ है।

सुन्दर मृदु मृदु रज का तन
चिर सुन्दर सुख दुख का मन
सुन्दर शैशव यौवन रे
सुन्दर सुन्दर जग जीवन !
सुन्दर वाणी का विभ्रम,
सुन्दर कर्मों का उपक्रम,
चिर सुन्दर जन्म मरण रे !
(पल्लविनी)

'अपार-संसार-समुद्र' की जो कल्पना शंकराचार्य और हिन्दू दार्शनिकों ने की थी उसमें डूबने वालों के लये "विश्वेश पादाम्बुज दीर्घ नौका" का सृजन आवश्यक था। आज उसकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि जन्म-मरण युक्त जीवन का क्रम 'सुन्दर' है, कैसी सुन्दर लय गति है इसमें !

मनुष्य का मिट्टी से सम्बन्ध है, किन्तु वह मिट्टी नहीं है। पाश्चात्य भौतिकवाद से कवि की दृष्टि ऊपर उठ चुकी है। अभिनव मानव 'अग्नि-चक्षु' है ! क्या ही सुन्दर मानस मूर्त्ति है !

ओ अग्नि चक्षु, अभिनव मानव !
संपर्कज रे तेरा पावक
चेतना शिखा में उठा धधक
इसको मन नहीं सकेगा ढंक।
(उत्तरा)

पृथ्वी का होते हुए भी मनुष्य पृथ्वी के ऊपर है।

मैं लोक पुरुष, मैं युग मानव,
मैं ही सोया भू पर नीरव
मेरे ही भू रज के अवयव !
मैं ही धारण करता हूं भव ! (उत्तरा)

मानव के पार्थिव रूप का स्तवन आज काव्य की मुख्य धारा है "मानव ! तुम सबसे सुन्दरतम"। इसी स्तवन में अनेकों मानस चित्र कवियों ने उपस्थित किये हैं। यह मानना होगा कि मनुष्य का पूरा पार्थिव चित्र अभी नहीं बना, जैसा रामायण में ('गूढजत्रु: अरिन्दम:') काव्यों के काल में, मध्य युग में या उत्तर मध्यकाल में स्पष्ट रूप से अंकित किया गया है। अभी हम अभिनव मानव की स्पष्ट मुखाकृति, उसका क़द, हाथ, पैर, आँख, नाक नहीं बना पाये हैं, क्योंकि अब कवि कमल, चन्द्रमा, हाथी की शुण्डा दण्ड आदि के प्रयोग से चित्र बनाना पसन्द नहीं करता। जीवन के वेग और विप्लव में पड़ा हुआ कवि मनुष्य को अभी तक दीपक और उसकी लौ, चिन्गारी, प्रवाह, आँधी, पुष्प, उन्मुक्त पक्षी, बादल, तारक या नक्षत्र के रूप में ही देख रहा है। प्रकृति के अनेक रूपों में जहाँ तरलता, वेग, विकास, आलोक आदि उसे प्रतीत होते हैं, वहाँ वह अपने रूप का प्रतिबिम्ब देखता है। नई कविता में 'स्वर्ण', 'रजत' की (प्रगतिवादी होते हुए भी) भरमार है, और, अन्तर्विकलता, व्यथा तथा उत्तेजना के कारण अग्नि की लपटें इस कविता में उठती सी स्पष्ट देख पड़ती हैं। कुछ नमूने देखिये, स्थान स्थान पर पावक और स्वर्ण के ढेर आपको मिलेंगे !

मैं मुट्ठी भर भर बाँट सकूँ
जीवन के स्वर्णिम पावक कण,
वह जीवन जिसमें ज्वाला हो
मांसल आकांक्षा हो मादन !
(उत्तरा)

स्वर्ण मरन्द रहा झर झर
जीवन प्रभात नव आया !
(उत्तरा)

स्वर्ण द्रवित अब जीवन का तम
चमक रहा मन का घन थम थम
(उत्तरा)

आज नवल चेतना शक्तियाँ जन्म ग्रहण कर
ज्योति प्रीति सुषमा की स्वर्णिम निर्झरिणी सी

× ×

रश्मि-स्फुरित अन्तर्नभ से अवतरित हो रहीं
ध्यान मौन इस तपोभूमि के रजत व्योम में ।

(सौवर्ण)

मानव की जो मूर्ति 'पावक', 'प्रवाह' और 'स्वर्ण' आदि से नई कविता में रची गई हैं वह कहीं कहीं तो अद्भुत प्रतिमाओं का सृजन कर सकी हैं जो पाठक की कल्पना में रूप, रस, दीप्ति, गति आदि भरने के लिये समर्थ हुई हैं।

गुहा बद्ध ज्योतिर्निर्झर सा युग सचेष्ट अब
जन भू को मज्जित करने जीवन शोभा में

× ×

हिम शिखरों पर प्रतिध्वनित शत रजत रश्मियाँ
आत्म चकित आभाओं में प्रतिफलित हो रहीं
दीप्त प्रेरणाओं सी, निस्वर उन्मेषों सी !
कंप उठती हों कोटि तडित् हर्षातिरेक से !

(सौवर्ण)

कवि ने कल्पना के बल से हिमाचल को शुभ्र सांस्कृतिक संचय का रूप देकर अद्भुत प्रतिमा की सृष्टि की है ।

पृष्ठ भूमि में शोभित मौन हिमाद्रि श्रेणियाँ
विश्व सांस्कृतिक संचय सी स्मित शुभ्र सनातन

(सौवर्ण)

पाठक से विनय है कि वह स्वयं मानव की पावक आदि से सृजित प्रतिमाओं तथा इनसे निसृत असंख्य ज्योतिर्मयी मनोमूर्त्तियों का नई कविता में अवलोकन करे । स्थान की सीमा है ।

(३)

नारी के लिये आज 'छाया-ग्राहिणी' या 'नरक का द्वार' आदि प्रतिमा अग्राह्य हैं। किन्तु हमारा युग वैराग्य का तो नहीं; उन्मुक्त काम का है जिसमें अतृप्ति और सन्ताप रहते हैं । इसलिये पुरुष ने अपने आपको क्रान्ति के लिये जगे हुए पावक-कण के रूप में देखा है; वह नारी को उसके सच्चे और तुल्य रूप में न देखकर, भर्तृहरि के शब्दों में 'विषममृतमयं' ही समझ पाया है।

यद्यपि नये साहित्य ने नारी के स्वरूप को बहुत कुछ संवारा है, तथापि कवि उस के विषय में अभी कुछ ऊँची बातें नहीं कह पाया है । 'पुरुष-प्रिया' नारी के विषय में कवि की मत सुनिये :

सहसा आईं तुम मुझ अजेय को
हंस कर जय करने वाली
आधी मधु, आधी सुधा सिक्त
चितवन का शर भरने वाली

(रसवन्ती)

मुकुर देख खिलखिला रही हो किस आसन्न विजय से ?
निरावरण उद्दाम किरण सी खिलती और मचलती

× ×

सच है अभी बगल से गुजरी तुम लालसा-लहर सी

(रसवन्ती)

हाँ, कवि यह अवश्य चाहता है कि नारी केवल चितवन का शर भरने वाली लालसा-लहर ही न रहे। वह उसके भीतर उस 'लाल-शिखा' को जगाना चाहता है "आँखों में जिसके बलने से दिशा काँप जायेगी" यहाँ स्त्री की आँखों में दिशाओं को कंपा देने वाली 'लाल-शिखा' सुन्दर प्रतिमा का सृजन हुआ है । यह सब होते हुए भी, चाहे राजनीति नर और नारी को 'समान' मान ले, कवि आज भी नारी को समान न मानता हुआ भी उसे अपनी प्रेरणा का मूल स्रोत मानता है । चाहे नारी बुरा माने या भला (आशा यही है कि बुरा न मानेगी), कविता के लिये नारी का मधुर सौंदर्य सदैव प्रेरक रहेगा । कवि काव्य में उसे समानाधिकार दे ही नहीं सकता, क्योंकि ऐसा करने से उसको प्रेम करने का सहज अधिकार ही न रह जायगा। यद्यपि मनुष्य ने अपनी 'दिव्यता' को निराकृत कर दिया है, वह नारी को अभी 'माया' या रहस्य के रूप में ही देखता है । नारी के आविर्भाव के विषय में कई अनूठी उक्तियाँ हैं :—

ज्ञानियों ने देखा सब ओर
प्रकृति की लीला का विस्तार;
सूर्य, शशि, उडु जिनकी नखज्योति

पुरुष उन चरणों का उपहार !
अगम 'आनन्द' जलधि में डूब
तृषित 'सत् चित्' ने पाई पूर्त्ति;
सृष्टि के नाभि-पद्म पर नारि !
तुम्हारी मिली मधुर रस-मूर्त्ति ।
(रसवन्ती)

नया कवि स्त्री को आध्यात्मिक रूप भी देने में नहीं चूका है, यद्यति वह स्वयं अपने लिये इसे स्वीकार नहीं करता ।

तुम्हीं हो स्पृहा, अश्रु औ हास,
सृष्टि के उर की साँस;
तुम्हीं इच्छाओं की अवसान
तुम्हीं स्वर्गिक आभास;
(पल्लविनी)

कहीं कहीं कवि संसार को दुःखमय देख रहा है। वहाँ भी स्त्री को अमृत रूप में वह स्वीकार करता है।

जगत-घट को विष से कर पूर्ण
किया जिन हाथों ने तैयार,
लगाया उसके मुख पर, नारि,
तुम्हारे अधरों का मधु सार ।
(हलाहल)

जगत के विष-घट पर लगा हुआ मधु-सार—यह स्त्री की एक नूतन प्रतिमा है। यह मानना होगा कि नख-शिख युग के काव्य में तथा महाकाव्यों में जिस नारी की मनोहर मूर्त्ति घटित हुई है वह नूतन काव्य में नहीं मिलती । उस मूर्त्ति में जो रंग, रूप, लावण्य और कमनीयता मिलती है वह आज नहीं । किन्तु आज उस नारी-मूर्त्ति में प्रेम, पूज्यता, सौकुमार्य, उचित मान आदि विद्यमान हैं । मनुष्य के नारी-प्रेम में वासना का वास तो है, क्योंकि वह जा नहीं सकता, किन्तु उसमें नारीत्व, मातृत्व, प्रेम की पावनता आदि का गौरव भी है। देखिये !

दो वर्ण 'प्रिया' यह मधुर नाम
रसना की प्रथम ऋचा निर्मल,
उल्लसित हृदय की प्रथम बीचि,
सुरसरि का विन्दु प्रथम उज्ज्वल ।
(रसवन्ती)

जीवन में रमणी प्रवेश करती है माता बन कर ।
(रसवन्ती)

जो भी मूर्त्ति इस समय तक प्रस्तुत की जा चुकी है, यह मानना होगा कि नारी का काव्यात्मक रूप अभी निखरना शेष है ।

(४)

जब मनुष्य ने 'देव' बनना अस्वीकार किया तो उसमें मनुष्योचित 'भूख' जगी जिसे वह अस्वीकार नहीं कर सकता । उसका स्वातंत्र्य-प्रेम, किसी भी बन्धन को न मानने की उद्दाम कामना, इसी भूख का एक अंश है। इस कामना से कई सुन्दर काव्यात्मक प्रतिमाएं नूतन कविता में सृजित हुई हैं ।

हम पंछी उन्मुक्त गगन के
पिंजरबद्ध न गा पायेंगे,
कनक-तीलियों से टकरा कर
पुलकित पंख टूट जायेंगे !
(पर आँखें नहीं भरीं)

इसी मुक्त वातावरण में आज उसके उचित-अनुचित के मूल्यमान इतने बदल गये हैं कि स्यात् किसी साधारण नवीनतावादी को भी धक्का लगे । देखिये !

धिक् रे मनुष्य, तुम स्वच्छ, स्वस्थ, निश्छल चुंबन
अंकित कर सकते नहीं प्रिया के अधरों पर ?
× ×
उज्ज्वल करता न प्रणय सुवर्ण, तन का पावक ?
× ×
है पुण्य तीर्थ नर नारी जन का हृदय-मिलन,
आनन्दित हो ओ, गर्वित, यह जीवन का वर,
गौरव दो द्वन्द्व प्रणय को, पृथ्वी हो पावन !
(ग्राम्या)

मनुष्यत्व के इस नूतन गौरव के उल्लास में कवि अपने पुरातन मूल्यों की परिभाषाएं बदल रहा है। प्रीति की परिभाषा सुन्दर प्रतिमाओं के माध्यम में देखिये ।

प्रीति न अरुण साँझ के घन सखि !
पल भर चमक बिखर जाते जो
मना कनक गोधूलि लगन सखि !
प्रीति नील, गंभीर गगन सखि !
चूम रहा जो विनत धरणि को
निज सुख में नित मूक मगन सखि !
(रसवन्ती)

इसी प्रकार स्वातंत्र्य की परिभाषा देखिये !

स्वातंत्र्य उमंगों की तरंग, नर में गौरव की ज्वाला है।
स्वातंत्र्य सोचने का हक़ है, जैसे भी मन की धार चले,
स्वातंत्र्य प्रेम की सत्ता है, जिस ओर हृदय का प्यार चले;
इत्यादि।
(नीम के पत्ते)

स्वातंत्र्य प्रेम में भीगे हुए कवि–हृदय से जो भावाक्त प्रतिमाएं फूट निकली हैं उनका माधुर्य भी "नीम के पत्ते" में देखिये !

है फूट रही लालिमा, तिमिर की टूट रही घन कारा है,
जय हो कि स्वर्ग से छूट रही आशिष की ज्योतिर्धारा है।
बज रहे किरण के तार, गूंजती है अम्बर की गली गली,
आकाश हिलोरें लेता है; अरुणिमा बाँध धारा निकली,
(नीम के पत्ते)

हमें मानना चाहिए कि अतृप्त, भूखे मानव के हृदय से नूतन काव्य को कई स्रोत मिले हैं और असंख्य मानस मूर्त्तियाँ इस 'भूख' को नक्शे में बाँधने के लिये प्रकट हुई हैं। किन्तु मनुष्य का व्यष्टि, स्वार्थ-रत, पशु-जीवन हमें अभीष्ट नहीं है। कवि यों तो समष्टि का उपासक सदा ही रहा है, किन्तु आज वह काव्य द्वारा जिस 'मानव' को अपने अन्तश्चेतन में से निकाल कर चेतन के स्तर पर उभार रहा है वह पूर्णतया समष्टि मानव व सामाजिक प्राणी है। समष्टि मनुष्य की मनोमूर्त्तियाँ देखिये।

कोई नहीं पराया, मेरा घर सारा संसार है।
मैं न बंधा हूं देश-काल की जंग लगी जंज़ीर में
मैं न खड़ा हूं जाति-पाति की ऊंची-नीची भीड़ में
(प्राणगीत)

इस प्रकार मानव की व्यक्तिगत अतृप्ति और आकांक्षा उसके व्यष्टि जीवन के प्रतीक बन गये हैं, और, साथ ही, उसकी समष्टि चेतना आज मनुष्य के लिये धर्म सी पावन और ईश्वर के समान उपासना के योग्य होगई है। व्यष्टि रूप में मनुष्य जीवन की यथार्थता को स्वीकर चुका है, अर्थात् जीवन के सुख-दुख, पाप-पुण्य और इसके जन्म-मरण को। ये द्वन्द्व इसलिये नहीं कि इनके पार जाने का प्रयत्न किया जाये, द्वन्द्वातीत, विमत्सर अवस्था को पहुँचा जाये। किन्तु इनसे जीवन की शोभा बढ़ती है और न भी बढ़े तो क्या, ये जीवन के सत्य हैं [illegible]नकी उसे तलाश है। "मैं प्रतिध्वनि पा चुका, ध्वनि खोजता हूँ"

विराग मग्न हो कि राग रत रहे,
विलीन कल्पना कि सत्य में दहे,
धुरीण पुण्य का कि पाप में बहे,
मुझे मनुष्य सब जगह महान् है।
(मिलनयामिनी)

नागार्जुन की 'भिक्षुणी' जो 'अमिताभ' से बुद्ध [illegible]भिक्षुणी होने का पश्चात्ताप करके अपने यौवन के अनुकूल पति और पुत्र का वरदान चाहती है, इस युग में तृप्ति के लिये अतृप्त आकांक्षा का प्रतीक है।

(५)

मनुष्य जब 'अपनी' खोज में निकलता है तो चलते चलते अवश्य ही अध्यात्म के रहस्य में खो जाता है। नई कविता यद्यपि 'यथार्थवादी' बनने की चेष्टा करती है, किन्तु, मानो वह जैसे 'यथार्थ' हो ही नहीं सकती, अवश ही मानव के आध्यात्मिक, रहस्यात्मक रूप को प्रस्तुत करती है। देखिये,

संहार-सृजन के वज्र अक्षरों में अक्षर
जब लिखी गई थी नहीं कथा जड़-चेतन की,
तब मैं ही था रच रहा एक नव सृष्टि यहाँ
चिर-चिर शाश्वत, चिर-लिर विराट् अपनेपन की।

संसार न था जब, तब मैं था संसार स्वयं
जब था न पवन, तब मैं था एक अनन्त श्वास

× ×

वहीं एक प्रतिमा देखिये जो वेदों के नासदीय सूक्त से कम महत्त्व की प्रतीत नहीं होती।

पल-विपल, निमिष-क्षरण, दिवस-मास, अब्दाब्द, कल्प,
विखरे थे जो कालोदधि पर मुकता दल से,
मैंने ही गूंथे थे निशिदिन की माला में
अपनी पलकों के मीलन-उन्मीलन छल से

(दर्द दिया है)

मनुष्य का विराट् स्वरूप जो पुरुषूक्त से कम सुन्दर नहीं इस प्रकार चित्रित किया गया है।

एक बीज में निहित असंख्य वन वितान,
एक विन्दु में विहित असंख्य सिन्धु गान,
देश-जाति-धर्म-वर्ग बाँध बाँध कर,
एक ही हृदय विराट् में प्रकम्पमान।

(विश्वास बढ़ता ही गया)

जीवन को प्रतीकों में व्यक्त करने का प्रयत्न भी नई कविता में चला है। कबीर ने जीवन की 'चदरिया' बुनी थी; नीरज ने जीवन की नसेनी तैयार की है।

दो बाँस, तीन डंडों से बनी नसैनी यह
जो खड़ी सहन का जोड़ रही छत से नाता,
धरती आकाश बने जब से तब से इस पर
हर एक यहाँ चढ़ उतर, उतर चढ़ता जाता।

× ×

उत्तर देता आकाश कि चढ़ना ही जीवन
औ, मृत्यु उतरने का ही एक बहाना है,
है जन्म-मरण बस तीन सीढ़ियों की दूरी
सबको ऊपर जाना है, नीचे आना है।

(प्राणगीत)

जीवन के मूल और मूल्य की खोज में कविता स्वयं ही रहस्यमयी बन जाती है, किन्तु जब वह 'मरण' या मृत्यु का अन्वेषण करती है तो वहाँ बिना रहस्य के गुजर नहीं। नई कविता ने इस रहस्य को सुन्दर प्रतिमाओं में भर लेने का प्रयत्न किया है।

लगी खेलने आग प्रगट हो,
थी विलीन जो तन में
मेरे ही मन के पाहुन
आये मेरे आँगन में!
उठी यवनिका आज तिमिर की
अंकुर उगा विभा का
चमक उठी वह पगडंडी जो
प्रिय के गई भवन में!

× ×

ठौर ठौर हैं मरण-सरोवर
बने पिया के मग में;
धोकर श्रान्ति, स्वस्थ हो पन्थी!
लग जा पुन: लगन में!

(रसवन्ती)

मानव का जो काव्यात्मक स्वरूप नई कविता में प्रगट हो रहा है उसमें स्पष्ट रेखा, स्वच्छ रंग और निश्चित आकार की कमी होना संचरण काल के अनुरूप ही है। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वह आज अवतार ले रहा है।

आज नया मानव ईश्वर अवतरित हो रहा,
स्वर्ण रश्मियों से स्मित ऊषाओं के रथ पर।
तड़ित् स्फुरित लतिकाओं से लिपटे पर्वत सा,
अगणित सुर वीणाओं के झंकृत निर्झर सा।
उन्मद भृंगों से गुंजित नव कुसुमाकर सा,

(अतिमा)

इतना ही नहीं, वह युग-मानव आज इतना आत्म-चेत हो उठा है कि अपने आगमन की स्वयं सूचना दे रहा है।

मैं हूँ सौवर्ण, लोक जीवन का प्रतिनिधि!
नव मानव में·······
युग मानस का पद्म जिसके अन्तर में
भविष्य के शत स्वर्णिम युग, नव जीवन की
शोभा में सागर से स्पन्दित!

(सौवर्ण)

(शेष पृष्ठ १७ पर)

सूरदास : मूल्यांकन की समस्या

डॉ० रामरतन भटनागर

सूर-साहित्य के मूल्यांकन की समस्या तुलसी-साहित्य के मूल्यांकन की समस्या से भिन्न और अधिक गंभीर है। इसके कई कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि सूर की काव्य-साधना बड़ी असंतुलित है। उसमें कई विभिन्न स्तरों की काव्य-प्रक्रियाएं और काव्य-निधियाँ मिलती हैं। सूरसागर का मूल ढाँचा चौपई-चौपाई छंद है जिसमें सूरदास की काव्य-प्रतिभा का लवलेश भी दिखलाई नहीं देता। विद्वानों का विचार है कि संभवतः अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में सूरदास ने बिठ्ठलनाथ के कहने पर या स्वयं भागवत की प्रेरणा से अपनी काव्य-संपत्ति को भागवत के आधार पर वह नया रूप दे दिया जो "सूरसागर" के नाम से प्रसिद्ध है। यह सारी सामग्री सूरसागर में बिखरी पड़ी है और इसी के द्वारा सूरसागर को प्रबंधात्मकता प्राप्त होती है। अधिकत: यह सामग्री विवरणात्मक है और उसमें काव्योत्कर्ष का कोई सुन्दर स्वरूप दिखलाई नहीं पड़ता। सूर-काव्य का दूसरा स्तर उनका ध्वनि-काव्य या वाग्वैचित्र्यमूलक भ्रमरगीत-प्रसंग है। इस कोटि के अन्य प्रसंग भी दान-लीला, मान-लीला इत्यादि के रूप में मिलते हैं। इस काव्य-भूमि पर सूरदास निष्णात कवि, पण्डित और विदग्ध कलाकार के रूप में सामने आते हैं और उनकी नवनवोन्मेषिनी प्रतिभा किसी भी राजकवि से होड़ ले सकती है। यह निश्चय है कि इन प्रसंगों में सूर कवि अधिक हैं, साधक और भक्त कम; परन्तु यह कवि-रूप भी कुछ कम सुन्दर नहीं है। तीसरा स्तर उनके रसात्मक काव्य का है जो बाल-लीला और किशोर-लीला में वात्सल्य और शृंगार की विस्तृत राग-भूमियों को लेकर उपस्थित होता है। इन भूमियों पर सूरदास अप्रतिम हैं। यह कहना कठिन हो जाता है कि वह पहले कवि हैं या साधक क्योंकि यह द्विधा ही इस काव्य में समाप्त हो गई है। इन दोनों रसभूमियों में वात्सल्य और शृंगार (मधुर) भक्ति-भाव भी उतनी ही पूर्णता और विस्तृति से उभर कर सामने आते हैं। साधारणत: वात्सल्य और शृंगार विरोधी रस हैं, परन्तु सूर की रुचि दोनों में समान रूप से रमी है और कृष्ण (ब्रह्म) की विरुद्धधर्माश्रियता की जैसी अभिव्यक्ति सूर में होती है, वैसी अन्यत्र नहीं। राधा-नागर के असंख्य भाव-विलास, आमोद-प्रमोद, हास-अश्रु इस काव्य में मूर्त्तिमान हो उठे हैं। साथ ही नन्द-यशोदा, गोपी-गोप और सखाओं के माध्यम से वात्सल्य, मधुर और सख्य-भाव की भक्ति भी सुन्दर रूप से व्यंजित है। एक ही प्रसंग में काव्यरस और भक्तिरस दोनों की अनुभूति ग्रहीता को प्राप्त हो जाती है और वह भी सोलह-आने-वाली सम्पूर्णता में। यह चमत्कार ही सूर-काव्य के मूल्याङ्कन में एक बहुत बड़ी बाधा बन जाता है। उस पर काव्य की विविध भूमियाँ और रचनाओं का असंतुलन इस समस्या को और भी जटिल बना देते हैं। तुलसी के मूल्याङ्कन में कठिनाई दूसरे ढंग की है। तुलसी का व्यक्तित्व कवि, युगद्रष्टा और साधक का व्यक्तित्व है और उनके काव्य में समस्त पूर्वपरम्परा का सर्वश्रेष्ठ आत्मसात हो गया है। पुराण और काव्य की समानान्तर चलने वाली दो धाराओं को उन्होंने रामचरित-मानस में इस प्रकार समन्वित कर दिया है कि यह कहना कठिन हो जाता है कि उनके व्यक्तित्व का कौन स्वरूप प्रधान है। तुलसी की महानता के पीछे राम-साहित्य-परम्परा और पुराण-शास्त्र का बल है। परिवर्तित युग-जीवन और आलोचना के बदलते मानदण्डों के साथ-साथ तुलसी का मूल्याङ्कन भी नया रूप प्राप्त करता रहा है और बराबर मापदण्ड छोटा पड़ा है। परन्तु सूर-साहित्य के सम्बन्ध में विविधता का प्रश्न

उतना नहीं है जितना विशिष्टता का है। उसमें विस्तार तुलसी की अपेक्षा कम है, विषमता भी उतनी नहीं है, परन्तु गहनता अपेक्षाकृत अधिक है। अतः कवि का मूल्याङ्कन करते समय हमें अत्यन्त सूक्ष्म मूल्यों को महार्घता देनी होगी।

फिर प्रश्न यह भी उठता है कि आध्यात्मिक काव्य की स्वतंत्र स्थिति क्या है। उसे हम कितना काव्य मानें, कितना अध्यात्म। सतरहवीं शताब्दी के अंग्रेजी साहित्य के धार्मिक कवियों (मेटाफ़िज़िकल पोयट्स) के सम्बन्ध में भी यह कठिनाई सामने आई है, परन्तु उनमें कवि और साधक इतने एकरूप नहीं हो गए हैं कि अन्तर समझ ही नहीं पड़े। सूर-साहित्य में अध्यात्म और काव्य एकरस बन गए हैं। शत-प्रति-शत काव्य और शत-प्रति-शत अध्यात्म ने सूर-साहित्य को विचक्षण बना दिया है। फिर यह साहित्य संगीत की पराकाष्ठा लेकर सामने आया है और उसमें साहित्य, संगीत और धर्म की त्रिवेणी बही है। तुलसी के साहित्य में त्रिधात्मकता है; यह एकात्मकता नहीं है। सूर के सर्वश्रेष्ठ का विश्लेषण असंभव है। उसमें श्रेष्ठतम काव्य, श्रेष्ठतम संगीत और श्रेष्ठतम धार्मिक अनुभूति का अद्भुत योगायोग है।

एक अन्य प्रश्न क्लासिकल और रोमांटिक शब्दों को लेकर भी उठ खड़ा होता है। सूरदास के काव्य को तुलसी के काव्य के समकक्ष और विपक्ष इन्हीं संदर्भों में रखा गया है। कहा गया है कि सूर रोमांटिक हैं और तुलसी क्लासिकल। परन्तु यह कहना कठिन हो जाता है कि स्वच्छन्दतावाद की सीमाएं कहाँ समाप्त हो जाती हैं और मर्यादावाद की सीमाएं कहाँ शुरू होती हैं। प्रश्न दो पारिभाषिक शब्दों का ही नहीं है, दो विभिन्न और विरोधी व्यक्तित्वों का भी है। जहाँ कुछ आलोचक सूर को पौराणिक कवि मानते हैं, वहाँ यह प्रश्न उठता है कि सूर की यह पौराणिकता भावगत ही है या कलागत भी। यह तो नहीं है कि उनकी विषय-वस्तु पौराणिक हो और काव्यविधि रोमांटिक या स्वच्छंद। सूर का प्रत्येक उत्कृष्ट पद जिस पूर्णता का आभास देता है, वह किसी भी क्लासिकल कृति की संपूर्णता से लेश-मात्र भी कम नहीं है। फिर उसे क्लासिकल क्यों नहीं कहा जाय।

यह स्पष्ट है कि सूर के मूल्यांकन में समीक्षकों को असमंजसता है। कोई उन्हें तुलसी से बड़ा बतलाता है, कोई छोटा, कोई बराबर रखता है, कोई दोनों को दो विभिन्न काव्यप्रतिभाओं का प्रतीक मानता है। भक्तियुग में तुलसी भक्त माने गए और सूरदास कवि। नाभादास ने अपने प्रसिद्ध छप्पय में उनके कवि-स्वरूप को ही प्रधानता दी है। रीतियुग में "राधा-कन्हाई सुमिरन" के बहाने कविता लिखी गई और सूर "कवियों के कवि" बन गए। सभी प्रमुख रीति-कवियों ने सूर से बहुत कुछ लिया परन्तु जनता उनके भक्त-रूप के प्रति ही अधिक विश्वासी रही। कवि के रूप में उन्हें मानने के लिए वह तैयार नहीं थी। भारतेन्दु युग नवीन संदर्भों में उलझा रहा और द्विवेदी युग अपनी नीतिवादिता के कारण सूरदास को संपूर्ण रूप से स्वीकार भी नहीं कर सका। उसके आदर्श तुलसी थे क्योंकि उनमें नीति और मर्यादा के प्रति द्विवेदी युग का आग्रह प्रतिफलित था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सूरदास को छोटा करके ही तुलसी को महार्घता देनी चाही। "सूर सूर तुलसी ससि" की वार्त्ता पिछले युग की वस्तु बन गई। छायावाद-युग में स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों के आग्रह के कारण सूर का महत्त्व बढ़ा और उन्हें विशुद्ध काव्य-भूमि पर रख कर नया मूल्यांकन प्रस्तुत हुआ। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सूर-साहित्य का मूल्यांकन आपेक्षिक ही अधिक रहा है, अपने भीतर से और स्वतन्त्र रूप से उसका मूल्यांकन अभी नहीं हो सका है। कवि में विशुद्ध काव्य की खोज नयी चीज़ है। परन्तु सूर यदि कवि के नाते बड़े हैं तो साधक और भक्त के नाते छोटे क्यों हों। भारतीय साहित्य-परम्परा जीवनानुभूति को अखण्ड और समग्र मानती है। उसमें कवि के संपूर्ण व्यक्तित्व की स्वीकृति है। धर्म और काव्य को हमने अलग करना आवश्यक नहीं समझा है। ऋग्वेद, उपनिषद, गीता, भागवत, पुराण और गीत-गोविन्द प्रभृति ग्रन्थ इसके

प्रमाण हैं।

ऊपर के विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सूरदास के मूल्यांकन की समस्या के तीन रूप हैं:

(१) सूर-साहित्य की विभिन्न और विविध काव्य-प्रक्रियाओं की समस्या

(२) सूरदास के काव्य के अंतर्गत क्लासिकल और रोमांटिक काव्य की समस्या जो मूलत: कवि के व्यक्तित्व की द्विधात्मकता की समस्या है।

(३) धर्म और काव्य के योगायोग की समस्या।

सूर-साहित्य के मूल्यांकन को स्पष्ट रूप देने के लिए हमें इन तीनों समस्याओं पर विस्तारपूर्वक विचार करना होगा।

सूर-साहित्य के अंतर्गत तीन विभिन्न काव्य-स्तरों के सम्बंध में हम पहले निर्देश कर चुके हैं जो क्रमशः पौराणिक (वर्णनात्मक), बौद्धिक (वाग्वैदग्ध्यमय अथवा ध्वन्यात्मक), और अनुभूतिपरक (रसमय) हैं। वर्णनात्मक काव्य चौपई-चौपाई छंद में है और शेष दोनों में अभिव्यंजना के लिए एक ही प्रगीत-मुक्तक शैली (या पद-शैली) का उपयोग हुआ है। पहली शैली सूर के पौराणिक व्यक्तित्व और अभिरुचि की ओर संकेत करती है। दूसरी शैली में उनका वाग्विलासी, कवि, पंडित और नवनवोन्मेषिनी प्रतिभासंपन्न व्यक्तित्व सामने आता है जो हमें अभिभूत करने में पूर्णत: सफल है। संस्कृत और अपभ्रंश के मुक्तक काव्य (सुभाषित साहित्य) की सारी सुषमा सूर के इस ध्वनि-काव्य को परम्परा का बल दे रही है। तीसरी शैली की रचना रसपूर्ण पदों में मिलती है और इसी में कवि की भक्ति-भावना और उसके संवेदनशील हृदय का सबसे प्रगाढ़ परिचय मिलता है। सख्य, वात्सल्य और मधुर भाव की भक्ति में डूब कर कवि ने अपनी रस-दृष्टि को नया स्वरूप दिया है। रति-भाव का जैसा व्यापक, गहन, विविध और सर्वांगपूर्ण एवं स्वानुभूति-परक चित्रण सूरदास में मिलता है, वैसा संभवत: अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलेगा। चमत्कार की बात यह है कि एक ही कवि बौद्धिक और अनुभूतिपरक काव्य के दो स्तरों को संपूर्ण रूप से निबाहने में सफल हो सका है। इसे हम सूरदास के व्यक्तित्व की विजय ही कह सकते हैं। विशुद्ध अनुभूति को वह स्वभावोक्ति का रूप देकर निर्वैयक्तिक बनाने में सफल हुए हैं तो एक ही प्रसंग पर कोड़ियों बौद्धिक आरोप लाद कर वह भावविलासी, बुद्धिजीवी और ऊहाप्रधान कवि भी बन गए हैं क्योंकि सूरदास "लीला-कवि" हैं। जो कवि को केवल-मात्र संवेदनामय प्राणी मानता है, वह विदग्ध कविता के रसास्वादन में असफल होगा। परन्तु कविता क्या केवल रसकोषों को ही छू सकेगी। क्या उसमें व्यक्तित्व की समग्रता नहीं आ सकेगी। इस समग्रता के लिए भावयित्री और कारयित्री प्रतिभाओं का सर्वरूपेण समाहार आवश्यक है। सूर के व्यक्तित्व और काव्य में यह समाहृति बहुत बड़ी मात्रा में मिलेगी।

सूर का काव्य मूलत: प्रतीक-काव्य है। कृष्ण, राधा, गोपियाँ, नंद-यशोदा, मुरली, रास सब प्रतीक हैं। प्रतीक-योजना प्रच्छन्न रूप से बौद्धिक प्रक्रिया है। अत: इन प्रतीकों के द्वारा सूरदास हमारी बुद्धि को छूने में सफल हैं। परन्तु ये प्रतीक पौराणिक युग से रसात्मक संवेदनाएं भी समेटते आए हैं और कथा-प्रसंग में मानव-जीवन के मिलन-वियोग, सुख-दुख, अश्रु-हास की भी बड़ी सजीव और गहन व्यंजना हुई है। इस प्रकार सूरदास के काव्य में वर्णन, रूपक और रससृष्टि कवि का आत्म-निवेदन बन कर श्रेष्ठ काव्य की भूमिका ग्रहण कर सके हैं। विभिन्न और विरोधी काव्य-भूमियों को कवि के व्यक्तित्व और आत्मनिवेदन ने इस प्रकार सम्गुंफित कर दिया है कि दरार कहीं भी दिखलाई नहीं पड़ती।

क्लासिकल और रोमांटिक काव्य की समस्या भी मूलत: कवि के व्यक्तित्व की समस्या है। इस समस्या का समाधान भी कवि-व्यक्तित्व के भीतर से है। वास्तव में ये दो काव्य-प्रक्रियाएं नहीं है, दो प्रकार के व्यक्तित्व हैं और प्रतिभाशाली कवियों-कलाकारों में दोनों प्रकार के व्यक्तित्व रहते हैं। इन व्यक्तित्वों का उपयोग उनके काव्य में विभिन्न अनुपातों में होता है। सूरदास के काव्य

में प्रतिमानों और प्रतीक-विधानों के क्षेत्रों में स्वच्छंदतावादी प्रतिभा का उपयोग है, परन्तु प्रत्येक पद की पूर्णता, भावभरता और एकान्विति "क्लासिकल" काव्य के ढंग की है। परापर-विच्छिन्न मुक्तक काव्य में कलाकारी की सुविधाएं हैं। सूरदास का काव्य स्वयं एक विशाल मंदिर-प्रांगण है जिसमें आख्यात्मक प्रसंगों और अनुभूतिमय प्रकरणों के विस्तृत कला-खण्ड हैं जो अपने सौष्ठव और अपनी विशालता से हमें आश्चर्य-चकित कर देते हैं। परन्तु प्रत्येक खण्ड सूचीवद्ध और अलंकृति-संपन्न है और उसकी तैयारी में पर्याप्त मौलिकता, निजता और बारीकी के दर्शन होते हैं। इस प्रकार सूरसागर में देवमंदिर की विशालता और भीति-चित्रों की निपुणता एक ही साथ मूर्तिमान है। प्रचलित उपमानों को भी सूरदास ने जिस नवीनता और संदर्भ-मयता से कलात्मक रूप दिया है, वह उनकी कलादृष्टि और अंतर्योजना का द्योतक है।

तीसरी समस्या धर्म और काव्य के योगायोग की समस्या है। सूरदास के काव्य का उद्गम ही धर्म है। उसकी नींव में अध्यात्म है क्योंकि सूरसागर की सारी कथा "रूपक" मात्र है और स्वयं सूरदास बार-बार कथा की रूपकात्मकता और लोकोत्तरता की याद हमें दिला देते हैं यद्यपि मानवीय संवेदनाओं को चित्रित करते समय वह लोकोत्तरता को एकदम भुला भी सकते हैं। परन्तु "रूपक" कह देने भर से सूर-काव्य की आध्यात्मिकता पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। उसकी आध्यात्मिकता के पीछे तीन सहस्राब्दियों की आध्यात्मिक संस्कृति है जिसका प्रथम स्फुरण ऋग्वेद की ऋचाओं में मिलता है। वैदिक ऋषि को "कविर्मनीषीः परिभूः स्वयंभूः" कहा गया है। कहा है : कवयः सत्यश्रुतयः। इस "सत्य" को ही उपनिषद में अद्वैत-दर्शन का रूप मिला है। पुराणों ने इसी अद्वैत को शिव-शक्ति, राधा-कृष्ण और राम-सीता के शक्ति और शक्तिमान् के प्रतीक के द्वारा सटीक करना चाहा है। सूरदास ने राधा-कृष्ण के सर्वमान्य प्रतीकों के द्वारा इसी अद्वैत वेदांत को काव्यपरक बनाया है। उनके राधा-कृष्ण पुराणों के राधा-कृष्ण होकर भी उनके अपने हैं क्योंकि उनके द्वारा सूरदास के अपने आंतरिक जीवन की आवश्यकतापूर्ति हुई है। रास और निकुंजविहार के रूपकों में अद्वैतवाद ही प्रतीकवद्ध है परन्तु इन प्रतीकों के द्वारा सूरदास साधना की एक लंबी परम्परा को काव्य का सुन्दर रूप दे सके हैं। अध्यात्म और काव्य का यह ग्रन्थि-बंधन भारतीय काव्य-परम्परा की अपनी विशेषता है। इस विशेषत्व का सम्पूर्ण और कलात्मक निर्वाह सूरसागर में हुआ है। मध्ययुग की भावभूमि जड़-चेतन, लोक-परलोक, "स्व"—"पर" और गीत-अगीत को वेदांत की अनुभूतिमयी भूमिका पर एक बिन्दु पर समाहृत कर सकी है। पुराण और तंत्र इस प्रक्रिया में सहायता पहुँचाते रहे हैं। मध्ययुगीन अध्यात्म-चेतना की समग्रता में निर्गुण सगुण बन गया है। स्वयं सूरदास ने लिखा है :

> रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति बिनु निरालंब कत धावै।
> सब बिधि अगम विचारहिं तातें सूर सगुन-पद गावै ॥२॥

परन्तु इसमें साधक की दो भूमियों पर चलने की लाचारी की स्वीकृति नहीं है। इस द्विधा का उपयोग संपूर्ण सूरसागर में हुआ है और उसने सूरदास के काव्य को काव्य की सामान्य भूमि से ऊपर उठा कर "मंत्र" बना दिया है। यह द्विधा ही श्रेष्ठ आध्यात्मिकता को जन्म देती है, परन्तु तब वह द्विधा न रह कर राधा-नागर का अखण्ड एकत्व बन जाती है। अद्वयानुभूति के उस क्षण में लोकोत्तर ही हृदय-स्पन्दन बन जाता है और परात्पर ब्रह्म नंद-यशोदा की गोद में खेलने लगता है अथवा अहीर की छोहरियाँ उस परम प्रेय को "छछिहा भर छाछ" पर नचाने लगती हैं। ऐसे विशुद्ध क्षणों में राधा-कृष्ण मानसी मूर्त्ति मात्र रह जाते हैं और उनकी पौराणिकता एवं चरित्रात्मकता नीचे छूट जाती है। इससे उदात्त अध्यात्म-भूमि को काव्य में बाँधना सरल नहीं है। इसे चमत्कार ही कहना पड़ेगा। भागवत को भगवान व्यास की "समाधि-भाषा" कहा गया है। इसमें कदाचित् इसी चमत्कार की स्वीकृति

है। सूरदास के काव्य का एक बड़ा भाग इस चमत्कार का प्रकाशन है। उसे "धर्म" कहें या काव्य, अन्त तक यह निश्चित करना संभव नहीं है। सच तो यह है कि इस काव्य में अध्यात्म और काव्य की विभाजक रेखाएं समाप्त हो गई हैं और एक अभिनव कोटि की रस-सृष्टि उभर आई है। यह दूसरी बात है कि इस श्रेष्ठतम रसभूमि से नीचे उतर कर भी सूरदास हमें काव्यरस देने में समर्थ रहे हैं।

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि सूरदास के मूल्यांकन की समस्या जहाँ एक ओर कवि के व्यक्तित्व तक पहुँचने की समस्या है, वहाँ दूसरी ओर भक्ति-युग की आध्यात्मिक भूमियों के आत्मसातकरण की भी समस्या है। हमारा अपना युग खण्डित मूल्यों और भौतिकवादी-विज्ञानवादी प्रवृत्तियों का युग है। उसकी आध्यात्मिकता प्रसुप्त है। उसने मनुष्य को मनोवैज्ञानिक, भाविक और अर्थनैतिक-राजनैतिक बना दिया है। जीवन की समग्रता और आंतरिकता में उसका विश्वास नहीं जम पाया है। ऐसा खण्डित युग न तो किसी समीकृत युग को पहचान सकता है, न किसी समग्र व्यक्तित्व के भीतर प्रवेश कर सकता है। अपरिसीम सहानुभूति देकर भी आज हम सूरदास के काव्य के प्रति न्याय करने में समर्थ नहीं हैं। इससे यह स्पष्ट है कि अनेक उदात्त और महार्घ भूमियाँ पीछे छूट गई हैं और अब कदाचित् उनके वास्तविक रूप में हम उन्हें उपलब्ध नहीं कर सकेंगे। अधिक-से-अधिक रूपक, स्वभावोक्ति या श्रेष्ठतम प्रगीत मान कर ही हमें सूर-काव्य की निचली भूमियों से ही संतोष कर लेना होगा। वेद, उपनिषद और तंत्र भी आज हमें उतने ही उपलब्ध हैं जितने किसी बुद्धिवादी युग को हो सकते हैं। सूरदास के मूल्यांकन के संबंध में यह समस्या बनी रहे तो कोई आश्चर्य नहीं है। परन्तु मूल्यांकन की सीमाओं से परिचित होकर हम अपने युग की सीमाओं को अवश्य जान सकेंगे।

(पृष्ठ १२ का शेषांश)

नव मानव को कौन न देख सकेगा, क्योंकि इसका रूप जो काव्य-चेतना में उदित हुआ है वह लपटों में देदीप्यमान हो रहा है। देखिए—

वह देखो, वह झंझा रथ पर चढ़ कर आता,
नव युग का मानव, प्रदीप्त जीवन पर्वत सा।
धरा पंक को दग्ध, मनोनभ को दीपित कर।
....

अग्नि पुरुष यह, प्राण पुरुष यह, लोक पुरुष यह!
(सौवर्ण)

देवता चकित होकर उससे पूछते हैं—

कौन, कौन तुम तप्त स्वर्ण से दारुण, सुन्दर,
धरा गर्भ के गुह्य तमस से प्रकट सूर्य से ?
(सौवर्ण)

मानना होगा कि नव मानव की इन प्रतिमाओं में सोने का तप्त रंग, बल, ओज, गरिमा, इन्द्रियों को सुख देने वाले रस, स्पर्श, रूप, गन्ध आदि की कमी नहीं है। काव्य के इस केन्द्रीय प्रतीक का स्पष्टीकरण मनोमूर्त्तियों द्वारा साहसी चित्रकार की तूलिका द्वारा चित्रोन्मीलन की भाँति होगा।

"गढ़ कुंडार" का अर्जुन कुम्हार और "लगन" की रामा

श्री वृन्दावनलाल वर्मा

वकालत मज़े के साथ चल रही थी। छुट्टियाँ सदा किसी न किसी जंगल या गाँव में गुज़रती थीं। एक छुट्टी में शिकार के लिए झांसी से दूर एक जंगल में जा पहुँचा। गाँव वाले जानपहिचान के थे। न भी होते तो उनमें घुलने मिलने का अभ्यास मेरे स्वभाव में परिवर्तित हो गया था।

गाँव वालों ने चिंता प्रकट की—"बड़े भैया, हमारे यहाँ पास ही कहीं से एक नरभक्षी नाहर आ गया है, इसलिये हम तुम्हें रात के समय शिकार के लिये जंगल में नहीं बैठने देंगे।"

नरभक्षी नाहर यानी 'आदमखोर शेर!' मंडला और विलासपुर (मध्यप्रदेश) के जंगलों में तो ऐसे नाहरों की बात सुनी थी, परन्तु उस जंगल में शेर के रहने की सूचना पहली बार ही मिली—वह भी नरभक्षी नाहर की! मुझे आश्चर्य हुआ। "कहाँ से आगया है यह नाहर?" मैंने पूछा

उन्होंने पड़ोस के एक गाँव का नाम लेते हुए बतलाया—"वहाँ एक दिन यों ही झगड़ा हो गया। लाठी चल गई। एक धोबी मारा गया। पहले तो वह भूत हुआ अब हो गया है नाहर। जिन्होंने उसे मारा उन्हें फाँसी जब लगे तब लगे धोबी नाहर बनकर उनके साथियों, हेलियों मेलियों को पहले खा जायगा।"

"अभी तक नाहर ने किसी मनुष्य को खाया है?"

"किसी को! कई को खा गया है। जंगल में लकड़ी बीनते कई नर नारियों को भख गया है।"

"क्या ये लोग उस धोबी के मारने में शरीक थे?"

"नहीं तो पर कभी उसका बुरा चाहा होगा।"

मैंने मुश्किल से बात इधर उधर की और अपना निश्चय प्रकट किया,—"शेर के भीतर धोबी का भूत नहीं है, धोबी का प्रेत उस पर सवार भले ही रहता हो। मैं रात में किसी अच्छे बचाव के ठौर पर बैठूंगा। यदि शेर वहाँ आया तो मुझे देखते ही भूत भाग खड़ा होगा, क्योंकि मुझ पर बहुत से भूत सवार रहते हैं।"

वे सब हंस पड़े और उनमें से दो एक कहने लगे—"कहते हैं लोग कि धोबी भूत हो गया है, किसने देखा?"

मैं जंगल के एक सुनसान स्थान में साँझ के पहले ही जा बैठा। सूर्यास्त के बाद अंधेरा छाने लगा। चिड़ियाँ चहचहाती हुईं अपने अपने बसेरों को चली गईं। झींगुर झंकारने लगे। अंधेरा बढ़ा। सन्नाटा छा गया। रात अंधेरी थी। मैं भूमि पर आड़ ओट लिये बैठा था। आया था वहाँ घमंड के साथ, परन्तु जैसे-जैसे रात भीगने लगी मेरा घमंड घुलने लगा। बड़े ध्यान के साथ आहट लेता रहा। नरभक्षी शेरों के जो वर्णन पढ़े और सुने थे आखों के आगे चक्कर काटने लगे। मैं बन्दूक जांघ पर रक्खे था, अब कन्धे पर जमाई—यदि शेर मेरे ऊपर आया तो पीछे से ही आयगा, तुरन्त गोली चला दूंगा। उधर वह शंका और विकल्प, इधर ऊंघ, आँखें झपकने लगीं। भय, शंका, संकल्प-विकल्प और थकावट एक दूसरे को छू छू जा रहे थे। दस बजे रात तक यही हाल रहा। फिर नींद चली गई और चेतना कुछ अधिक स्थिर हो गई। दूर से कभी साँभर, कभी चीतल और कभी किसी जानवर की बोली सुनाई पड़ती थी। तारे निखर आये थे, हवा बहुत धीरे धीरे चल रही थी। मैं अपने आसपास की वस्तुस्थिति पर ही ध्यान दिए था।" किसी कहानी या उपन्यास की रूपरेखा बनाने का प्रयत्न किया, परन्तु कुछ न बन पड़ा। होते करते सवेरे के चार बज गये। कन्धे दुखने लगे। बन्दूक एक तरफ रख ली और लेटते ही सो

गया—शेर के जबड़ों में ही जाना है तो आ जाय, खा जाय ! जब आँख खुली, काफी दिन चढ़ आया था। गाँव वाले मेरी कुशल क्षेम के लिये आ गये थे। मैंने कोई लम्बी चौड़ी नहीं हाँकी, फिर भी उन पर प्रभाव पड़ा। मैंने मन ही मन प्रण किया कि ऐसी ऊलजलूल हरकत कभी नहीं करूंगा, शेर का शिकार धरती पर बैठ कर नहीं खेलूंगा।

इसके कुछ पहले ही मैं भरतपुरा ग्राम के दुर्जन नामक कुम्हार[1] के सम्पर्क में आ गया था। इसके माता पिता ने या जिसने भी उसका यह नाम रक्खा हो, किया बिलकुल ग़लत नामकरण। उसमें दुर्जनता तो किसी भी तरह की न थी। पक्का साँवला रंग, बड़ी आँखें, कभी मूंछ बड़ी तो कभी दाढ़ी लम्बी। जीभ ऐसी कि कुछ न कुछ कह डालने के लिये सदा सुरसुराती रहती। ओठों पर जैसे विधाता ने हंसी की मुहर लगाकर जन्म दिया हो। वचन का पक्का, कष्टसहिष्णु, और निर्भीक। एक दिन मैं दुर्जन के साथ जंगल में घूम रहा था। एक नाले के किनारे घनी हरी दूबा पर ओस के कण सवेरे की रवि-रश्मियों में दमक रहे थे।

दुर्जन ने धीरे से कहा—"बाबू साब, दूबा कैसी मुसक्या रई है !" उसकी बात सुनकर मैं पुलकित हो गया। इसके भीतर कवि भी है।

एक दिन दुर्जन किसी काम से मेरे पास झांसी आया। खा पीकर मेरी बैठक में सो गया। सवेरे बात-चीत हुई।

"कहो दुर्जन जंगल में अबकी बार कहाँ चलें ?" मैंने पूछा

"जहाँ मच्छर ले चलें" दुर्जन ने तपाक से उत्तर दिया और बेतरह हंसा। मुझे भी हंसी आई। दुर्जन को रात में मच्छरों ने सताया था, मैं तुरन्त समझ गया।

अपनी उसी खिलखिल में दुर्जन ने कहा—"झांसी के मच्छर तो इतने बड़े हैं कि लगता था जैसे मुझे भरतपुरा उठाये लिये जा रहे हों।"

दुर्जन अपनी बिरादरी का पंच भी था। पंचायत की बैठक में ऐसी दून की हाँकता था कि जिसका ठिकाना नहीं। मेरी और फूलचन्द जी पुरोहित की बातचीत में दुर्जन ने प्रयाग के कुछ बड़े बड़े वकीलों के नाम सुन रक्खे थे। पंचायत में विवाद बढ़ा नहीं कि समस्या हल करने के लिये दुर्जन ने अपनी राय प्रयाग के उस किसी बड़े बकील की बना कर पेश करदी ! और लोगों ने मान ली ! दूर पड़े पड़े मैंने स्वयं दुर्जन की व्यवस्थायें सुनी हैं।

एक गाँव में मैंने एक बड़ी सुन्दर युवती देखी, बड़ी लजीली। अपने मायके में थी। दीवाली आ रही थी। घर की मरम्मत लीपापोती इत्यादि के लिये गाँव-बाहर खदान से मिट्टी खोद रही थी। उसकी भावज भी साथ थी, परन्तु वह उतना श्रम नहीं कर रही थी। पूछताछ करने पर एक ने बतलाया कि उसके मायके और सुसराल वालों में एक ज़रा सी बात पर झगड़ा हो गया था तो मायके वालों ने बहुत दिनों सुसराल नहीं भेजा।

"झगड़ा खतम हो गया है न ?" मैं उत्सुक हुआ।

"हाँ हो गया है," जरा मुंह बिदकाकर कहा था ग्रामीण ने कि दुर्जन ने आँखें तानकर जोड़ा—"इसी लड़की ने झगड़ा निबटाया—एक अंधेरी रात जंगल पहाड़ और नदी लाँघती हुई ससुराल में जा पहुँची।"

"अकेली ?"

"और नहीं तो क्या फौज फाँटा लेकर ?" दुर्जन हंस पड़ा।

"पैदल !"

"पैदल, बिलकुल पैदल। उसके क्या पंख लगे हैं जो उड़ जाती !" दुर्जन ने कुछ क्षण उपरान्त ही हंसी रोक पाई। दुर्जन चिलम पीने लगा। मैं सोच विचार में डूबने उतारने लगा। जिस जंगल में बन्दूकधारी शिकारी भी अकेले जाने का मुश्किल से साहस बटोर सकेगा उसमें यह चली गई !

---

१ "गढ़ कुंडार" के अर्जुन कुम्हार यही सज्जन हैं।—सं०

मैंने प्रश्न किया—"कितनी दूर है इसकी सुसराल ?"

"दो कोस"—मुझे उत्तर मिला ।

दो बुन्देलखण्डी कोस—कम से कम ६ मील के बराबर । मुझे विश्वास नहीं हो रहा था, परन्तु पता लगाने पर अविश्वास के लिये कोई गुन्जायश नहीं रही । मायके वाले लड़की को किसी दूसरे के यहाँ बिठलाना चाहते थे—उनकी बिरादरी में रिवाज था—परन्तु लड़की नहीं मानी । लड़की काफ़ी समय तक अपनी ससुराल में बनी रही । फिर दोनों घरों में समझौता हो गया और लड़की मायके आने-जाने लगी । मेरे "लगन" उपन्यास की नायिका "रामा" यही लड़की है जो मैंने इस जानकारी के लगभग एक वर्ष उपरान्त लिखा था । परन्तु जिन दिनों इस चरित्र ने मुझे प्रभावित किया उन दिनों में कुछ भी नहीं लिख पा रहा था ।

गढ़ कुंडार समाप्त किये दस पन्द्रह दिन ही हुए होंगे कि "लगन" उपन्यास आरम्भ कर दिया । पात्र कथावस्तु, भौगोलिक परिचय और अनुराग गाँठ में थे ही । एक सप्ताह के भीतर उपन्यास पूरा हो गया । 'लगन' उपन्यास की "रामा" वही लड़की है—जिसका ऊपर ज़िकर कर आया हूँ ।

'लगन' के बाद ही मैंने 'संगम' उपन्यास के लिये कलम पकड़ी । इसके परिचय में मैंने लिख दिया है कि कौन पात्र कहाँ से और कैसे हाथ पड़ा । जैसे ही यह पूरा हुआ कि मैंने 'प्रत्यागत' आरम्भ कर दिया । इस उपन्यास में मैंने जिस माता का चित्रण किया है वह मेरी माता ही हैं । 'प्रत्यागत' की कई घटनायें झांसी में ही घटी थीं । जैसे छुआछूत मिटाने के प्रयास से सम्बन्ध रखने वाले भोज की कथा और उसकी प्रतिक्रिया के रूप में एक मन्दिर-स्थित मूर्ति के लौट देने का दुष्कर्म ।

'प्रत्यागत' के रामसहाय वैद्य, जैसा कि मैं पहले ही कह आया हूँ, असल में यहाँ के एक नामी डाक्टर थे । बहुत बैठकबाज़ थे, मेरे बड़े मित्र । छिपाना नहीं चाहिये कि वह गप मारने में भी विशारद थे । एक दिन एक और मित्र के साथ—जो किसी से कम गप्पी न थे—मेरे यहाँ बैठक हो रही थी । डाक्टर मित्र ने बतलाया—"मैंने इतने मोटे, इतने मोटे गन्ने देखे और खाये हैं कि जितनी मोटी मेरी जाँघ है ।" डाक्टर मित्र बहुत तगड़े थे । जाँघ उनकी छोटे से शीशम के पेड़ के तने की मुटाई की तो होगी ही !

दूसरे मित्र ने बड़ी गम्भीरता के साथ अपना अनुभव सुनाया—"अजी इस जमाने में खेती बागवानी ने इतनी उन्नति करली है कि जिसका ठिकाना नहीं । मैंने एक दिन एक बैलगाड़ी में इतनी मोटी, इतनी बड़ी मूलिया रक्खी देखीं कि मेरा दिमाग़ चक्कर खा गया । बैलों को गाड़ी के खींचने में मुश्किल पड़ रही थी ।"

"कितनी बड़ी रही होंगी मूलियाँ ?" डाक्टर मित्र का कुतूहल उमड़ा ।

उन मित्र ने अक्षुण्ण गम्भीरता के साथ उत्तर दिया,— "मूलियों की मुटाई का अन्दाज़ा लगा लीजिये—गाड़ी में केवल तीन थीं ।"

डाक्टर मित्र बिगड़ पड़े—"मुझे झूठा समझते हो, बेवकूफ बनाते हो !" मैं हंसी के मारे दुहरा होने लगा । मूली वाले मित्र ने थोड़ी सी ही मुस्कान के साथ जो कहा –"अजी उतना मोटा गन्ना चूसने वाला कहीं झूठा या बेवकूफ हो सकता है ?" तो डाक्टर मित्र भी खिलखिला पड़े । इनको मैं अपने किसी न किसी उपन्यास में लाये बिना कैसे चैन पा सकता था ?

बिम्ब और प्रतीक

श्री राजदेवसिंह

मनुष्य का भावलोक अनेक संवेगों और अनुभूतियों से पूर्ण रहता है जिन्हें वह कई प्रकार से अभिव्यक्त करता है। अभिव्यक्ति का सबसे सरल साधन सामान्य भाषा है, किन्तु बहुत से भाव और अनुभूतियाँ ऐसी होती हैं जिन्हें सामान्य भाषा द्वारा व्यक्त कर सकना आसान नहीं होता, और यदि बलात् उन्हें अभिव्यक्त करने का प्रयास किया भी जाय तो वे सामान्य कथन मात्र हो कर रह जायेंगी, उनमें काव्यात्मकता नहीं आ सकेगी। अतः भावों को अभिव्यक्त करने, और अभिव्यक्ति में तीव्रता, काव्यात्मकता और सम्वेदनीयता लाने के लिए कवि बिम्बों का आश्रय लेता है। सबेरे इन्दुमती का स्वयम्वर होने वाला है। अज इतने अधीर हैं कि सोने का लाख प्रयत्न करने पर भी उन्हें निद्रा नहीं आरही है। मूलरूप में बात इतनी ही है किन्तु इस सामान्य सी बात को कालिदास कुछ और ही तरह से सामने लाते हैं। उनका कहना है—

तत्र स्वयम्वर समावृत राजलोकं—
कन्याललाम कमनीयमजस्य लिप्सोः।
भावावबोध कलुषा दयितेव रात्रौ
निद्रा चिरेण नयनाभिमुखी बभूव ॥

अर्थात् अज को रात्रि में निद्रा उसी प्रकार नहीं आयी जैसे रात्रि में कलहविशेष से रूठी हुई प्रिया पति के निकट नहीं आती। लक्ष्य करने की बात है कि यहाँ निद्रा के न आने को रूठी हुई प्रिया के न आने से संयुक्त करके कालिदास ने रागात्मक-स्फुरण उत्थित करने में समर्थ एक ऐसे बिम्ब का विधान किया है जिससे बात में सरसता और काव्यात्मकता का विचित्र संयोग हो गया है। 'बारबार प्रयास करने पर भी निद्रा नहीं आयी' कहने से हमारे मनश्चक्षुओं के सम्मुख कोई चित्र नहीं उभड़ता अतः ऐसी अभिव्यक्ति का हमारे किसी स्थायीभाव को उद्‌बुद्ध कर सकना संभव नहीं। किन्तु कलह से रूठी हुई प्रिया का पति के निकट न आना हमारे मानसनेत्रों के सम्मुख एक ऐसा चित्र उपस्थित करता है जो हमारे स्थायीभाव का आलम्बन होने के कारण रसमय, संवेद्य अतः काव्यात्मक है और कवि तथा काव्यगत पात्र दोनों की वास्तविक मनःस्थिति को अभिव्यक्त कर सकने में अधिक सक्षम है। इस एक बिम्ब के सहारे कालिदास अज की इन्दुमती विषयक अधीरता और निद्रा के लिये आकुलतापूर्ण प्रतीक्षा दोनों को अधिक स्पष्ट और हृदयहारी रूप में अभिव्यक्त कर सके हैं।

बिम्ब की ही भाँति भावों की काव्यात्मक अभिव्यक्ति का एक दूसरा साधन प्रतीक है। मनुष्य के समृद्ध भावलोक में ऐसी बहुत सी बातें होती हैं जिन्हें न तो सामान्य भाषा के माध्यम से व्यक्त किया जा सकता है और न स्थूल का आश्रय लेकर चलने वाले बिम्बों के माध्यम से ही। अतः ऐसे सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति के लिये प्रतीकों का सहारा लेना पड़ता है। सूक्ष्म एवं गूढ़तम विचारों, भावों एवं अनुभूतियों का प्रकाशन सामान्य शब्दों और परम्परागत अलंकारों की शक्ति के परे होता है! एक दीर्घ परम्परा से किसी निश्चित अर्थ में प्रयुक्त होने वाले, फिर भी असीम अर्थवत्ता से संयुक्त प्रतीकों द्वारा ही उक्त कार्य का सम्पादन हो सकता है। ब्रह्म जैसी अनाम, सूक्ष्म सत्ता को समझाने के लिये उपनिषदों में प्रायः प्रतीकों का ही आश्रय लिया गया है। सूफियों तथा निर्गुण सन्तों के काव्यों में प्रतीकों के प्रचुर प्रयोग का भी यही कारण है।

जिज्ञासा हो सकती है कि बिम्ब और प्रतीक में क्या अन्तर है? बहुधा देखा जाता है कि किसी कवि-विशेष द्वारा उसकी प्रारम्भिक रचनाओं में प्रयुक्त बिम्ब ही जब बार-बार उसी अर्थ में उसकी बाद की रचनाओं

में प्रयुक्त होता रहता है तो वह धीरे-धीरे प्रतीक का रूप लेने लगता है। महादेवी जी की बाद की कृतियों में बार-बार प्रतीकवत् प्रयुक्त होने वाले दीप, निर्झर, पुष्प आदि उनकी प्रारम्भिक कविताओं में बिम्ब ही थे जो एक निश्चित अर्थ में प्रयुक्त होते-होते बाद में प्रतीक (से) बन गये हैं। 'शेली' के काव्य में प्रयुक्त मुख्य प्रतीकों का विचार करते हुए यीट्स ने कहा है,—"उसकी (शेली की) कविता में असंख्य बिम्ब ऐसे हैं जिनमें प्रतीक की सी निश्चितता नहीं है जब कि कुछ बिम्ब निश्चय ही प्रतीक हैं और ज्यों-ज्यों समय बीतता गया इन बिम्बों का प्रतीक रूप में प्रयोग भी बढ़ता गया।"[१]

प्रतीक की प्रमुख विशेषता है उसका स्वतन्त्र अस्तित्व। बिम्ब हो यदि कविता में अपना अलग अस्तित्व बनाले तो प्रतीक बन जाता है। जब तक इसका अपना अस्तित्व स्थिर नहीं हो जाता और किसी प्रसंग में भाव, गुण या स्थिति के समधर्मी रूप में वर्णित होता रहता है, बिम्ब ही बना रहता है क्योंकि ऐसी अवस्था में वह उपमेय का आश्रित रहता है और उसका प्रयोग तुलना या साम्य मात्र के लिये होता है।

विद्यापति और कबीर की दो कविताओं में आये 'बूंद' शब्द से इस बात को आसानी से समझा जा सकेगा—

१. "तातल सैकत बारि बिन्दु सम
सुत मित रमनि समाज
तोहे बिसारि मन ताहि समरपितु
अब मझु होब कोन काज।"
—विद्यापति पदावली

२. हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराय।
बूंद समानी समद में, सो कत हेरी जाय॥"
--कबीर पदावली

विद्यापति की कविता में 'बूंद' विम्ब है। वहाँ उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है बल्कि वह उपमान रूप में आया है और उपमेय का आश्रित है। किन्तु कबीर के यहाँ बूंद किसी समधर्मी उपमेय का उपमान होकर नहीं आया है, वह सीधे-सीधे आत्मा का प्रतीक है। इस पर किसी गुण अथवा विचार का आरोप नहीं किया गया है।

बिम्ब और प्रतीक में मात्र स्वतन्त्र अस्तित्व का ही अन्तर नहीं है, इनका और भी एक प्रधान भेद है। यों बिम्ब विचारों से भी सम्बद्ध हो सकते हैं, और सी॰ डे॰ लेविस के अनुसार 'किसी वाक्य या वाक्य खण्ड के द्वारा भी उनकी सृष्टि हो सकती है, शर्त है कि वह वाक्य या वाक्यखण्ड, किसी बाहरी सत्य की छाया मात्र ही न होकर कुछ अधिक की ओर संकेत कर सकता हो।'[१] फिर भी यह सर्वसम्मत है कि बिम्ब प्रधानतः ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ग्राह्य होते हैं और घ्राण, स्पर्श तथा स्वाद-परक बिम्बों की अपेक्षा चाक्षुष बिम्बों की संख्या अधिक होती है। बिम्ब के योग से ही काव्य के अमूर्त-भाव मूर्त बनते हैं। किन्तु प्रतीक में ऐसा नहीं होता। प्रतीक किसी वस्तु का चित्र नहीं प्रस्तुत करता, भाव की विशेषता या प्रभाव की ओर संकेत भर कर देता है। विद्यापति की उक्त कविता में 'सुत मित रमनि समाज' को 'तातल सैकत बारि बिन्दु सम' कह कर जीवन की जलन और क्षणभंगुरता को मूर्तरूप दिया गया गया है, उसे कोरी अनुभूति के क्षेत्र से उठाकर इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की विशेषता से युक्त कर दिया गया है। परन्तु कबीर के 'बूंद' का समुद्र में समाना और समा जाने में उसे खोज निकालने की कठिनाई अपने में न कोई चित्र है और न इसमें किसी दृश्यविशेष के प्रत्यक्षीकरण का लक्ष्य ही है। यहाँ तो मात्र भाव की ओर इंगित किया गया है। इसमें बूंद का अपना अलग अस्तित्व है, वह किसी उपमेय का उपमान नहीं है और न वह किसी वस्तु अथवा तथ्य पर अवलम्बित ही है।

प्रतीक और बिम्ब का एक अन्तर इनके अर्थ की निश्चितता और संदर्भसापेक्षता के कारण भी होता है।

(शेष पृष्ठ ३० पर)

१. Theory of Literature P. 194

१. Poetic Image by C. D. Lewis, P. 18.

छायावाद के कवि-आलोचक प्रसाद

श्री बलवीर रत्न

छायावाद के स्वरूप-निर्धारण का प्रयास हिन्दी-आलोचना में द्विवेदी-युग से आज तक निरन्तर चलता रहा है। यों तो छायावादी साहित्य का विवेचन विभिन्न दृष्टिकोणों से किया गया है और आलोचकों की विचार-दृष्टियों में मतैक्य भी प्रायः नहीं है लेकिन यह सभी जानते हैं कि छायावाद पर विचार करने वाले साहित्य-मनीषियों के दो स्पष्ट वर्ग हैं। एक कवियों का, विशेषतः उनका जो स्वयं छायावाद के स्रष्टा हैं तथा दूसरा विभिन्न विचारधाराओं को लेकर चलने वाले उन आलोचकों का जो स्वयं कवि नहीं हैं, गद्य-लेखक हैं। यह दूसरी बात है कि गद्य के क्षेत्र में कार्य करने वाले आलोचकों में से एक दो कवि का व्यक्तित्व रखते हैं। किन्तु उनके नाम और काम का विज्ञापन समीक्षा-क्षेत्र में हुआ है। और सम्भवतः इसी क्षेत्र के सदस्य कहलाने में उन्हें एक विशेष आत्मतुष्टि और गर्व का अनुभव भी होता है।

अनेक वाद-मुक्त और वाद-ग्रस्त धरातलों पर चलने वाली छायावादी साहित्य की आलोचना को केवल एक पुष्ट आधार मिला है, वह है—छायावाद के स्रष्टा कवियों की समीक्षा शक्ति का। यद्यपि एक ऐसी भी धारणा कुछ नवोद्भूत हिन्दी आलोचकों के मस्तिष्क में कहीं कहीं दृष्टिगत होती है जो इन कवि-समीक्षकों की विचार शक्ति को निर्बल तथा उनके बुद्धिबल को अपूर्ण मानती है। इस धारणा का वहन करने वाले विद्वानों को इन कवियों के आलोचना साहित्य में 'चिन्तनात्मक साधना' का अभाव खटकता है। ऐसा समझना वस्तुस्थिति के अनुकूल नहीं है। वस्तुतः छायावादी कवियों ने जो कुछ थोड़ा बहुत गद्य लिखा है, और उसका जो अंश काव्यालोचन के रूप में है, वह स्वाभाविक निष्पक्षता लिए हुए है और छायावादी कलाकृतियों का निर्माण करने वाले अवयवों तथा काव्य-गुणों का उसमें सच्चा विवरण है। कम से कम उसका अध्ययन करने के उपरान्त इन कवि-आलोचकों की मेधा पर अविश्वास करने के लिए तो स्थान रह ही नहीं जाता। प्रसाद के 'काव्य कला तथा अन्य निबन्ध' के नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित आठ निबन्ध—गवेषणा, उद्भावना, विचारणा तथा साहित्यिक शैली की दृष्टि से अपूर्व हैं। ये निबन्ध लेखक के गूढ़, देशी-विदेशी, साहित्यक-दार्शनिक, अध्ययन-मनन को प्रकट करते हैं। 'प्रबन्ध-प्रतिमा', और 'प्रबन्ध-पद्म', में संकलित निराला के निबन्ध तथा 'पन्त और पल्लव' और 'रवीन्द्र-कविता-कानन' में विद्यमान व्याख्याएं एवं आलोचनाएं उच्चकोटि के समीक्षा-साहित्य में प्रतिष्ठापित की जा सकती हैं। पन्त के 'गद्यपथ' में संकलित अनेक निबन्ध लेखक की सूक्ष्म विवेचना-शक्ति के परिचायक हैं। यह एक दूसरी बात है, कि पन्त जी ने उन्हें कहीं तो अपनी काव्यकृतियों की भूमिकाओं के रूप में लिखा है, तथा कहीं अभिभाषणों और आकाशवाणी से प्रसारित वार्त्ताओं के रूप में। पेशेवर आलोचक के आसन पर बैठकर ये निबन्ध नहीं लिखे गये हैं। बौद्धिक दृष्टि से नितान्त जागरूक एक कल्पनाप्रवण कवि की समाधि की देन ये निबन्ध हैं। 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' में संकलित छः निबन्ध लेखिका के विस्तृत ज्ञान और मननशीलता को ज्ञापित करते हैं। इसलिए इस युग के छायावादी कवियों की आलोचना-शक्ति पर शंका करना निराधार तथा भ्रमपूर्ण है। यह दूसरी बात है कि इन कवियों ने सदैव सचेष्ट होकर आलोचक कहलाने की धुन में गद्य नहीं लिखा, यदा-कदा आवश्यकतावश कहीं कुछ लिख दिया है। यह भी दूसरी बात है, कि अंगरेजी के रोमांटिक कवि वर्ड्स-

वर्थ और शेली की भाँति छायावादी कवियों का आलोचना-साहित्य मात्रा में अत्यन्त अल्प है, अथवा कुछ विद्वानों के मतानुसार गुणों में अत्यन्त हीन है।[१]

इन छायावादी कवियों के नितान्त अल्पमात्रिक आलोचना-साहित्य ने भी हिन्दी-आलोचना का पथ-प्रदर्शन किया है, तथा छायावाद को समझने-समझाने में सहायता दी है। छायावाद के कितने ही आलोचकों पर किसी न किसी रूप में प्रसाद-महादेवी आदि की निबन्धाकार विचारसरणियों का ज्ञात-अज्ञात प्रभाव है। कितने ही विद्वानों ने कवियों के इन निबन्धों से प्रेरणाएं ग्रहण करके आधुनिक कविता तथा छायावादी साहित्य पर सोचना शुरू किया और इस दिशा में सन्तोषजनक प्रगति भी की। अतः इन कवि आलोचकों के ऋण को स्वीकार न करना उचित नहीं है।

अन्य कवि-आलोचकों को छोड़ते हुए यहाँ हम प्रसादजी की छायावाद-सम्बन्धी धारणाओं पर विचार करेंगे। 'काव्य कला तथा अन्य निबन्ध' में 'यथार्थवाद और छायावाद' शीर्षक एक निबन्ध है। इसका पूर्वार्द्ध उस यथार्थवाद की व्याख्या करता है, जिसकी प्रधान विशेषता प्रसाद ने 'लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात' बताई है। छायावाद से सम्बन्ध रखने वाला इस निबन्ध का उत्तरार्द्ध है जिसके प्रारम्भ के प्रथम वाक्य में ही लेखक ने छायावाद की परिभाषा इन शब्दों में दी है—"कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी तब हिन्दी में उसे छायावाद नाम से अभिहित किया गया।"[१] छायावाद की यह परिभाषा अति विज्ञापित है तथा इस काव्य-धारा से प्रभावित अनेक अध्येताओं को यह कण्ठस्थ हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

प्रसादजी ने इस सूत्र रूप परिभाषा की जो व्याख्या की है, उसका आशय इस प्रकार है:—रीतिकाल में कवि का झुकाव बाह्य वर्णन की ओर था। छायावादी कवि के भाव भी नये थे और अभिव्यक्ति भी। हृदय के इन भावों में उल्लास की नवीनता थी। इन नवीन सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति ने काव्य के कलेवर को भी परिवर्तित कर दिया। शब्दों और वाक्यों की भंगिमा एक अपूर्व अकल्पित स्वरूप धारण करके प्रकट हुई। भावों की सूक्ष्मता तथा शैली की विचित्रता ने छायावाद को जन्म दिया। छायावाद की व्याख्या करते हुए निबन्ध के मध्य भाग में प्रसादजी अनुभूति की अपेक्षा अभिव्यक्ति की ओर अधिक झुके हुए जान पड़ते हैं। पहले ही परिच्छेद के अन्तिम वाक्य में वह लिखते हैं, "शब्द-विन्यास में ऐसा पानी चढ़ा कि उसमें एक तड़प उत्पन्न करके सूक्ष्म अभिव्यक्ति का प्रयास किया गया।"[२] इस 'शब्दविन्यास', 'पानी' और 'तड़प' को लेकर चलने वाली अभिव्यक्ति की खोज में प्रसादजी प्रमाणों के लिए प्राचीन संस्कृत साहित्य तक पहुँचते हैं। उन्होंने भवभूति, अभिनवगुप्त, आनन्दवर्द्धन तथा कुन्तक आदि आचार्यों की कृतियों से उदाहरण देकर सूक्ष्म अभिव्यक्ति को सार्थक बनाने वाली विशेषताओं का निरूपण किया है।[३] अभिव्यक्ति में कान्ति, छाया, तरलता और स्निग्धता के गुण विद्यमान रहते हैं। उन्हीं के शब्दों में "शब्द और अर्थ की यह स्वाभाविक वक्रता विच्छित्ति छाया और कान्ति का सृजन करती है। इस वैचित्र्य का सृजन करना विदग्ध कवि का ही काम

१. अंगरेजी रोमांटिक कवियों पर दृष्टिपात करते हुए हम पाते हैं, कि वे प्रायः सभी काफी चिन्ताशील, काफी उच्चकोटि के विचारक थे। सब में उच्च आलोचना शक्ति थी। वड्सवर्थ शेली, कालरिज आदि के साहित्य-सम्बन्धी निबन्ध आज भी सम्मानपूर्वक पढ़े जाते हैं। किन्तु छायावादी कवियों में हम कोई उच्चकोटि का साहित्यिक विचारक नहीं पाते।

—छायावाद का पतन, डा० देवराज, पृष्ठ २१

१. काव्य कला तथा अन्य निबन्ध—सम्पादक नंददुलारे वाजपेयी, पृष्ठ १४३।

२. काव्य कला तथा अन्य निबंध, पृष्ठ १४३।

३. द्रष्टव्य—काव्यकला तथा अन्य निबंध, पृष्ठ १४३-७।

है।"[1] उसी स्वर में संस्कृत साहित्य से अभीष्ट अभिव्यक्तियों के उदाहरण देते हुए वह लिखते हैं, "इन अभिव्यक्तियों में जो छाया की स्निग्धता है, तरलता है, वह विचित्र है।"[2] विविध स्थलों से अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिए प्रसादजी ने संस्कृत साहित्य से जो सामग्री उदाहरणों के रूप में प्रस्तुत की है, तथा उसके आधार पर छायावाद की प्राचीनता का जो निर्णय दिया है,[3] वह विश्वसनीय है या अविश्वसनीय, यह तो एक व्यक्तिगत रुचि का प्रश्न है, किन्तु एक तथ्य प्रसादजी की छायावाद की व्याख्या में प्रत्येक मनन करने वाले पाठक के लिए अत्यन्त स्पष्ट है। वह निबन्ध के अधिकांश स्थलों पर छायावाद के काव्यात्मक प्रयोग को हिन्दी कविता के लिए एक अभिनव शैली का ग्रहण कहना ही मानते हैं। वह लिखते हैं, "हिन्दी में जब इस तरह के प्रयोग आरम्भ हुए तो कुछ लोग चौंके सही, परन्तु विरोध करने पर भी अभिव्यक्ति के इस ढंग को ग्रहण करना पड़ा।"[4] अपने निबन्ध के अन्तिम भाग तक आते-आते प्रसादजी ने छायावाद के अन्तर्गत अनुभूति की भंगिमा को भी लिया और लिखा, "छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है।"[5] अतः प्रसादजी के अनुसार छायावाद की विशेषताओं में जहाँ 'ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीकविधान तथा उपचारवक्रता हैं, वहाँ 'स्वानुभूति की विवृति' भी है। जब वह कहते हैं, कि "कवि कर्म आन्तरहेतु की ओर चल पड़ा था," तब वह इसी सूक्ष्म अनुभूति की ओर संकेत करते जान पड़ते हैं तथा उनके इस इंगित का आश्रय लेकर ही संभवतः बाद के कई आलोचकों में से किसी ने छायावाद को 'स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह' कहा

१. काव्यकला तथा अन्य निबंध, पृष्ठ १४५।
२. काव्यकला तथा अन्य निबंध, पृष्ठ १४७।
३. "प्राचीन साहित्य में यह छायावाद अपना स्थान बना चुका है।"–काव्यकला तथा अन्य निबंध, पृष्ठ १४७।
४. काव्यकला तथा अन्य निबंध, पृष्ठ १४७।
५. काव्यकला तथा अन्य निबंध, पृष्ठ १४९।

तो किसी ने 'स्थूल से उत्पन्न सूक्ष्म सौन्दर्य सत्ता की प्रतिक्रिया'। दो प्रसिद्ध विचारकों की छायावाद की परिभाषाओं का अवलोकन करने से यह समझ में आ जायेगा कि प्रसादजी के इस 'कवि कर्म आन्तरहेतु की ओर चल पड़ा था' के वे कितने निकट हैं :—

(१) "……उसने जीवन के इतिवृत्तात्मक यथार्थ चित्र नहीं दिए क्योंकि वह स्थूल से उत्पन्न सूक्ष्म सौंदर्य सत्ता की प्रतिक्रिया थी।"[1]

(२) "……आज से २०-२५ वर्ष पूर्व युग की उद्‌बुद्ध चेतना ने बाह्य अभिव्यक्ति से निराश होकर, जो आत्मबद्ध अन्तर्मुखी साधना आरम्भ की वह काव्य में छायावाद के रूप में अभिव्यक्त हुई।"[2]

हमारा यह आशय कदापि नहीं है कि इन समीक्षकों ने प्रसादजी का अनुकरण किया है किन्तु उन परिभाषाओं और अन्य कई समीक्षकों की परिभाषाओं में प्रसाद के आन्तरहेतु सम्बन्धी विचारसूत्र का प्रभाव झलकता देखा जा सकता है। इस प्रसंग को यहीं छोड़ते हुए प्रसादजी की छायावाद-सम्बन्धी धारणाओं के अवशिष्ट भाग पर विचार करना आवश्यक है। वे छायावाद को स्वप्निल, वायवी, अवास्तविक तथा अस्पष्ट कहने वालों का प्रतिवाद करते हैं। उनके मतानुसार छायावाद में जो अस्पष्टता है, वह कवि की अनुभूति की क्षीणता तथा अभिव्यक्ति की असमर्थता के कारण है। कवि की व्यक्तिगत कला-सम्बन्धी असमर्थता तथा भावात्मक शिथिलता छायावाद की इन न्यूनताओं के लिए उत्तरदायी हैं। ये व्यक्तिगत विकृतियाँ हैं, छायावाद के मूल दुर्गुण नहीं। उनका अभिमत उद्धृत करना ही उपादेय होगा, "हो सकता है कि जहाँ कवि ने अनुभूति का पूर्ण तादात्म्य न कर पाया हो, वहाँ अभिव्यक्ति विशृङ्खल होगई हो, शब्दों का चुनाव ठीक न हुआ हो, हृदय से उसका स्पर्श न होकर मस्तिष्क से ही मेल हो गया हो, परन्तु सिद्धान्त में ऐसा रूप छायावाद का ठीक नहीं कि जो कुछ अस्पष्ट, छायामात्र

१ 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' छायावाद निबन्ध, पृष्ठ ६७ से उद्‌धृत।
२ 'आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ' छायावाद निबन्ध, लेखक डा० नगेन्द्र।

हो वास्तविकता का स्पर्श न हो वही छायावाद है।"[१]

छायावाद के समानान्तर चलने वाला प्रश्न है रहस्यवाद का। 'काव्यकला तथा अन्य निबन्ध' नामक पुस्तक में 'रहस्यवाद' पर प्रसाद जी का एक पृथक् निबन्ध है जो उनके छायावाद वाले निबन्ध की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत तथा शोधपूर्ण है। इस निबन्ध का प्रथम वाक्य रहस्यवाद की व्याख्या करता है "काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा रहस्यवाद है।"[२] रहस्यवाद की इस सूत्रवद्ध परिभाषा का सम्बन्ध प्रसादजी की काव्यकला सम्बन्धी धारणा से है। काव्यकला की परिभाषा उन्होंने अपने एक अन्य निबन्ध 'काव्य और कला' में इस प्रकार दी है, "काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है।"[३] यद्यपि काव्यकला की सामान्य परिभाषा रहस्यवाद की परिभाषा के समान ही प्रसाद जी ने दी है किन्तु दोनों परिभाषाओं में 'आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति' एक क्लिष्ट प्रक्रियात्मक शब्दावली है जिसका स्पष्टीकरण प्रसादजी स्वयं इन शब्दों में करते हैं, 'आत्मा की मनन शक्ति की वह असाधारण अवस्था जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य में संकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है।"[४] इस प्रकार यह 'संकल्पात्मक मूल अनुभूति' मन की असाधारण अवस्था है। ऐसी, कि जिसमें युगों की 'शाश्वत चेतनता' तथा 'चिन्मयी ज्ञानधारा' संचित है। निष्कर्ष यह है कि प्रसादजी की रहस्यवाद की परिभाषा इस 'चिन्मयी ज्ञानधारा' से प्रेरणा ग्रहण करती है। उन्होंने अपने दृष्टिकोण से रहस्यवाद को अत्यन्त व्यापक रूप में ग्रहण किया है। उनकी मान्यता है कि 'वैदिक साहित्य के स्वरूप में उषासूक्त और नासदीय सूक्त इत्यादि उपनिषदों में अधिकांश संकल्पात्मक प्रेरणाओं की अभिव्यक्ति है।[४] यह कहा जा सकता है कि रहस्यवाद की इस व्यापक परिभाषा के अनुसार तो मन की सभी 'संकल्पात्मक प्रेरणाओं की अभिव्यक्ति' रहस्यवादी अभिव्यक्ति हो जाती है। प्रसाद जी के 'रहस्यवाद' शीर्षक निबन्ध में एक तथ्य अत्यन्त स्पष्ट है, वे रहस्यवाद को भारत की नितान्त प्राचीन विधारधारा मानते हैं। उन्होंने अपने निबन्ध में वेदों, उपनिषदों, ब्राह्मण-ग्रन्थों, मध्यकालीन दार्शनिक धर्मग्रन्थों, बौद्ध, नाथ-पंथी, सिद्धपंथी साहित्यों तथा निर्गुण, सगुण, ज्ञान-मार्गी, प्रेममार्गी संतों एवं भक्तों की उक्तियाँ और वाणियाँ उद्धृत करके यह प्रमाणित किया है कि भारत में रहस्यवादी परम्परा चिरकाल से अविच्छिन्न रही है। उनका यह प्रतिपादन बुद्धिसम्मत है। रहस्यवाद को सेमेटिक धर्म-भावना के अनुकूल या सामी पैग़म्बरी मतों की देन मानने वालों को प्रसाद ने कठोर प्रत्युत्तर दिए हैं।

प्रसादजी हिन्दी साहित्य की अर्वाचीन धारा को प्राचीन अद्वैत रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास मानते हैं। इस रहस्यवाद की विशेषताएं उनके मतानुसार इस प्रकार हैं, "इसमें अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौंदर्य के द्वारा अहं का इदम् से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है।"[१]

अन्त में एक तथ्य और है जिसका उल्लेख किये बिना प्रसाद जी की छायावाद-रहस्यवाद सम्बन्धी धारणाएं पूरी तरह नहीं समझी जा सकतीं। वे छायावाद को प्राकृतिक रहस्यवाद मानने को प्रस्तुत नहीं हैं। वे छायावाद और रहस्यवाद के अन्तर को कभी नहीं भूलते। उनका कथन है, "हाँ मूल में यह रहस्यवाद भी नहीं है। प्रकृति विश्वात्मा की छाया या प्रतिबिम्ब है। इसलिए प्रकृति को काव्यगत व्यवहार में ले आकर छायावाद की सृष्टि होती है, यह सिद्धान्त भी भ्रामक है। यद्यपि प्रकृति का आलम्बन, स्वानुभूति का प्रकृति से तादात्म्य नवीन काव्य धारा में होने लगा है, किन्तु प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाली कविता को ही छायावाद नहीं कहा जा सकता।"[२]

१ काव्यकला तथा अन्य निबंध, पृ० १४६।
२ काव्यकला तथा अन्य निबंध, पृ० ३१।
३ काव्यकला तथा अन्य निबंध, पृष्ठ १७।
४ काव्यकला तथा अन्य निबन्ध, पृ० १८।

१. 'रहस्यवाद' निबंध, पृ० ५६।
२. काव्यकला तथा अन्य निबंध, पृ० १४८।

उर्दू शायरी में प्रतीकवाद

श्री हंसराज रहबर

उर्दू शायरी जब शुरू हुई तो उस पर दार्शनिक प्रभाव सूफीवाद का था। इस दर्शन का सामाजिक पहलू यह है कि सूफीवाद सामंतवाद के खिलाफ व्यक्ति का विद्रोह है। सामंतवादी सत्ता को दृढ़ बनाये रखने के लिए कहा जाता था कि बादशाह जमीन पर खुदा का नुमाइंदा है। इस फलसफे के तोड़ के तौर पर सूफीवाद के विद्रोही नेता मंसूर ने नारा बुलंद किया "अनलहक" 'मैं खुदा हूं।' और उसे फाँसी लगा दी गई। लेकिन प्रत्येक व्यक्ति सहज में फाँसी लगवाने को तैयार नहीं होता, इसलिए सूफी संतों और कवियों ने सामंतवाद के दमन से बचने के लिए अपनी बात प्रतीकों में कहना पसंद की।

दूसरा दार्शनिक और धार्मिक पहलू यह है कि खुदा ने अपनी लीला दिखाने के लिए 'कुन' कहकर इस संसार को रचा। इसलिए दुनिया में जो भी शै है वह खुदा की हस्ती का जलवा है अर्थात् इस संसार की प्रत्येक वस्तु खुदा के सूक्ष्म अस्तित्व की प्रतिच्छाया मात्र है। जो वस्तु जितनी अधिक सुन्दर है, खुदा का जलवा उस में उतना ही अधिक है। इसलिए प्रकृति से प्रेम और मनुष्य से प्रेम खुदा से प्रेम है। यों सूफीवाद में इश्कमजाजी इश्कहकीकी तक पहुँचने का साधन मात्र है। इस प्रकार उर्दू शायरी में आशिक ईश्वर-भक्त का, इश्कभगवत-प्रेम का और माशूक खुद खुदा का प्रतीक ठहरा। उर्दू शायरी में शराब भी खुदा की भक्ति की शराब है और नशा और मस्ती इस भक्ति में तल्लीनता और इस भक्ति की शराब बहुत अधिक पीने वाला नशे में धुत व्यक्ति रिंद है। यह रिंदी और मस्ती सामंतवाद की आंधी और क्रूर शक्ति को धता बताने के लिए भी ज़रूरी थी।

वली दक्कनी उर्दू के पहले शायर माने जाते हैं। उनके कलाम में यह फलसफा और यह प्रतीक मुलाहिज़ा हों। एक गज़ल के शेर हैं—

अयाँ[1] है हर तरफ आलम में हुस्ने बेहिजाब[2] उसका,
बग़ैर अज़ दीदा-ए हैराँ[3] नहीं जग में नक़ाब उसका।
हुआ है मुझको शमा-ए बज्मे यक रंगी सो यो रोशन,
कि हर ज़र उपर ताबाँ है दायम आफ़ताब उसका।
करे उश्शाक को ज्यों सूरते दीवार हैरत सों,
अगर पर्दे सों ना होवे जमाले बेहिजाब उसका।
सजन ने यकनज़र देखा निगाहे मस्त सों जिसकों,
खुराबाते-दो-आलम में सदा है वह खराब उसका।

ग़ालिब कहता है :—

ये मसायले तसव्वुफ यह तेरा बयान ग़ालिब
तुझे हम वली समझते गर न बादाख़्वार होता।

अर्थ—ये सूफीवाद के सिद्धान्त और यह तेरा कहने का ढंग ! ए ग़ालिब, अगर तू शराबी न होता तो हम तुझे वली समझते।

और शराब की बाबत कहा है :—

मै से नशात ग़रज़ है किस रू समाह को,
इक गूना बे खुदी मुझे दिन रात चाहिए।

अर्थ—मै से खुशी कौन पापी चाहता है; मुझे तो एक प्रकार की मस्ती--आत्म विस्मृति—दिन-रात चाहिए।

लेकिन गालिब की आँखों के सामने सूफीवादी दर्शन का आधार--सामंतवादी सामाजिक व्यवस्था—टूट रही थी। उन्हें खुदा की हस्ती में संदेह होने लगा था, मगर इस संदेह को घोषित करते भय लगता था इसलिए अपनी बात प्रतीक में कही है :—-

क्या यह नमरूद की खुदाई थी
बंदगी में मेरा भला न हुआ।

१—प्रगट २—आवरणरहित सौन्दर्य ३—चकित हो जाने वाली आँख।

खुदा की बंदगी अर्थात् भक्ति से कहते हैं कि सब का भला होता है; लेकिन नमरूद एक ज़ालिम बादशाह था, उससे किसी को कोई फायदा नहीं पहुँच सकता था। इसलिए ग़ालिब कहते हैं कि मुझे उम्र भर की बंदगी से भी कुछ फायदा नहीं हुआ। क्या मैं खुदा के बजाय नमरूद की बंदगी करता रहा हूँ। सारांश यह कि खुदा और उसकी बंदगी एक ढकोसला मात्र है।

जिन शब्दों का अर्थ देखने में कुछ और वास्तव में कुछ और हो, वे प्रतीक कहलाते हैं। लेकिन समय के साथ अर्थ और प्रतीक बदलते रहते हैं। लखनऊ में नवाबी पतन के ज़माने की जो उर्दू शायरी है, उसमें गुल और बुलबुल, शमा और परवाना का प्रतीक बहुत इस्तेमाल हुआ फिर उसमें सय्याद और गुलचीं जालिम और अत्याचारी का, चमन देश का, कफस क़ैद और गुलामी का और आशियाँ आजादी का प्रतीक है। लेकिन इक़बाल तक जमाना बहुत बदल गया था, इसलिए इक़बाल ने इन्हीं प्रतीकों को दूसरे ढंग से इस्तेमाल किया। उनके तराना-ए-हिन्दी का पहला शेर देखिये :—

सारे जहाँ से अच्छा हिन्दुस्ताँ हमारा
हम बुलबुलें इसकी, ये गुलस्ताँ हमारा।

यहाँ 'बुलबुलें' और 'गुलस्ताँ' प्रतीक हैं और इन प्रतीकों ने शेरों में कितना माधुर्य उत्पन्न कर दिया है और यह प्रतीक ऐसे हैं कि साधारण से साधारण व्यक्ति की समझ में झट आ जाते हैं।

लेकिन बाद में इक़बाल जब फलसफी बन गया और देशभक्ति से हटकर अपनी शायरी द्वारा इस्लाम का प्रचार करने लगा, तो उसके प्रतीकों में यह आम अपील नहीं रह गई; वे गहरे हो गये और ऐतिहासिक संदर्भ में ही समझे जाने लगे—

एक ही सफ़ में खड़े हैं महमूदो अयाज़।

अयाज़ एक गुलाम था जिस पर महमूद ग़ज़नवी बहुत मेहरबान था। यहाँ महमूद आक़ा का और अयाज़ गुलाम अर्थात् जनसाधारण का प्रतीक है। अब इक़बाल योरुप में पूंजीवाद का पतन देख आया था, सोशलिज़्म और इंसानी मसावात (समता) की बातें हो रही थीं। शायर ने महमूद और अयाज़ को एक ही सफ़ में खड़े करके इस्लामी सोशलिज़्म की बात कही है।

लेकिन इक़बाल के बाद पश्चिम के प्रभाव से जो प्रतीकवाद एक आंदोलन के रूप में आया, हमें उसका विश्लेषणात्मक अध्ययन करना है क्योंकि यह प्रतीकवाद हिन्दी साहित्य ही की तरह कुछ उर्दू शायरों को साहित्य की जनवादी परम्परा से दूर कुमार्ग पर ले गया।

इस आंदोलन का आरम्भ अठारहवीं सदी के मध्य में फ्रांस में हुआ। बोड्लेरे, वर्लेने और मलार्मे इस नए आंदोलन के नेता थे। प्रसिद्ध कवि मलार्मे ने अपनी अपनी पुस्तक जुलेस हर्ट में इस आंदोलन का समर्थन करते हुए लिखा है:—

"मेरी राय में शायरी में प्रतीकों और संकेतों का होना अत्यावश्यक है। सोचते समय मस्तिष्क में वस्तुओं की गतिमान मूर्तियाँ बननी चाहिए, यही बात शेर का प्राण है। अब तक हमारे कलाकार और कवि वस्तुओं और भावनाओं का ज्यों का त्यों वर्णन करते आये हैं। यही कारण है कि उनकी कृतियों में रहस्य और अस्पष्टता का अभाव है। वे पाठक के मस्तिष्क को कल्पना के उस आनन्द से वंचित रखते हैं जिससे किसी भावना की उत्पत्ति होती है। किसी वस्तु को उसके प्रचलित नाम से पुकारना शेर के तीन-चौथाई सौंदर्य को नष्ट कर देता है, श्रोता के लिए शेर में कोई आनन्द बाकी नहीं रहता। शेर के अर्थ की खोज में हमें जो उल्लास पग-पग पर प्राप्त होता है वास्तव में वही उसका सौंदर्य और वही उसका आनन्द है। प्रतीकों ही से स्वप्न जाग उठते हैं।.........इस रहस्य के सही प्रयोग से प्रतीकवाद का जन्म होता है।"

हमारा खयाल है कि जब पूंजीवाद ने और चीज़ों की तरह कला और साहित्य को व्यापार की वस्तु बनाया और कलाकार और कवि का व्यक्तित्व खतरे में पड़ गया तो उसकी प्रतिक्रिया के रूप में यह आंदोलन चला। कविता ताकि व्यापार की वस्तु न रहे इसलिए

नौजवान स्वाभिमानी कवियों ने उसे अबोध्य बनाने पर ज़ोर दिया और कला कला के लिए का सिद्धान्त भी इसी आन्दोलन से उत्पन्न हुआ।

इसके बाद बीसवीं सदी के आरम्भ में यह आन्दोलन पतनोन्मुख साम्राज्यवादी लेखकों और कवियों के हाथ में पड़ गया और इसके डाँडे क्रोचे के अभिव्यंजनावाद और आँद्रे जिद और सार्त्र के अतियथार्थवाद और अस्तित्ववाद से जा मिले। इसका अर्थ अब यह हो गया कि कवि के मन में जो विचार उठते हैं उन्हें वह पूर्ण रूप से व्यक्त कर, जो बात वह समाज, सरकार और नैतिकता के भय से स्पष्ट नहीं कह सकता, उसे प्रतीकों में व्यक्त करे। इस बात को एडमंड विल्सन (Edmund Wilson) ने अपनी एक पुस्तक में इस प्रकार कहा है:—

"हम री चेतना के क्षणों का प्रत्येक भाव अथवा प्रभाव एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होता है; इसलिए हमारी भावनाओं और अनुभवों को परम्परागत साहित्य की साधारण भाषा द्वारा व्यक्त करना असम्भव है। प्रत्येक कवि का अपना एक अलग व्यक्तित्व होता है, उसका प्रत्येक क्षण एक अद्वितीय विशेषता को लिये रहता है, जिसमें विशेष तत्त्वों का सम्मिश्रण होता है। एक ऐसी भाषा का निर्माण करना जो कवि की मनोगत भावनाओं को व्यक्त करने में असमर्थ हो, प्रत्येक कवि का कर्त्तव्य है। ऐसी भाषा में प्रतीकों का प्रयोग आवश्यक है। कवि का चिंतन जो अत्यन्त अस्पष्ट, अत्यन्त द्रुतगामी, और अत्यन्त अछूता होता है, उसे स्पष्ट शब्दों अथवा विस्तार से बयान नहीं किया जा सकता। अलबत्ता शब्दों का एक ताँता अथवा मूर्तियों का एक क्रम जो पाठक के मस्तिष्क का नेतृत्व कर सके, उस उद्देश्य को पूरा कर सकता है।"

पश्चिम के व्यक्तिवादी और साम्राज्यवादी पतनोन्मुख कवियों और लेखकों में यह आंदोलन खूब चला। प्रतीक की भाषा का प्रयोग करके असम्बद्ध विचारों, विकारों और कुप्रवृत्तियों को साहित्य में धड़ल्ले से व्यक्त किया जाने लगा। एक प्रकार से यह आंदोलन अवचेतन की अभिव्यक्ति के लिए फ्रायडवाद की एक प्रशाखा बन गया। कविता ही में नहीं, कहानियों और उपन्यासों में भी इसका प्रयोग होने लगा। डी० एच० लारेंस और जेम्स ज्वाइस का साहित्य इसी अवचेतना की अभिव्यक्ति है, जिसमें लेखक और कवि स्वच्छंदता के नाम पर अपनी सामाजिक ज़िम्मेदारियों से मुक्त हो जाता है।

उर्दू में इस प्रतीकवादी आंदोलन के नेता कहलाने का श्रेय मीराजी को प्राप्त है। चार-पाँच साल पहले उनकी मृत्यु बम्बई में हुई, वैसे वह पश्चिमी पंजाब के रहने वाले थे। पाकिस्तान में उनके अनुयायियों की संख्या बहुत अधिक है और वह हल्का-ए-अरबाके जौक के नाम से एक संस्था चलाते हैं। यह संस्था कभी हिन्दुस्तान में भी थी जो धीरे-धीरे खत्म हो गई, मगर मीराजी के अनुयायी आज भी मिलते हैं। ये सब व्यक्तिवादी हैं और अवचेतना की बातें प्रतीकों में लिखते हैं और मीराजी के बाद टी० एस० इलियट पर गर्व करते हैं।

शायरी के कुछ नमूने देखिये। मीराजी की एक नज़्म 'तरक़्क़ीपसंद अदब' इस प्रकार है:—

इसको हाथ लगाया होगा हाथ लगाने वाले ने
फूल है राधा, भँवरा, भंवरे ने हाँ काले ने
जमना तट पर नाव चलाई नाव चलाने वाले ने
सखियाँ कबलौं लाज बचातीं, कुछ न सुनी मतवाले ने
काम न आया बात न रखी अपने दिलके अजाले ने
दिल का उजाला, बंसी वाला मीठी जिसकी वानी है।
बंसी धुन की बात न कहना यह तो पुरानी कहानी है।
अब तो सारी दुनिया बदली हर सूरत अनजानी है
दिल में सबके छाया अंधेरा जाहिर ही नौरानी है
यह भी रुत है मिट जायेगी, हर रुत आनी जानी है
इतनी बात कि दिल बैचेन रहे जग में लाफ़ानी है
दिल बेचैन हुआ राधा का कौन उसे बहलायेगा
जमना तट की बात भी होनी, अब तो देखा जायेगा
चुपकी सहेगी रंग वह राधा जो भी सिर पर आयेगा
ऊधो श्याम पहेली, रहती दुनिया को समझायेगा

प्रेम-कथा का जादू सुनने वालों के दिल पर छायेगा
यह बताग्रो कौन सूरमा ग्रब के हाथ लगायेगा।

नज़्म का शीर्षक ग्रापको बता दिया गया है, शब्द कोई कठिन नहीं हैं, ग्रगर ग्राप कुछ समझे हों तो बताइये।

मीराजी की नज़्मों की खूबी ही यह है कि वे तब समझ में ग्राती थीं जब मीराजी खुद लिखकर ग्रथवा उनके दोस्त उनसे सुनकर व्याख्या करते थे। ग्रब इस नज़्म के प्रतीक देखिये—

फूल ग्रौर राधा ज्ञान ग्रौर साहित्य की देवी के प्रतीक हैं। भंवरा जिसे ग्रागे चलकर काला कहा गया है तरक्क़ीपसंद ग्रदब या तरक्क़ी पसंद ग्रदीब का प्रतीक है। लेकिन तीसरी पंक्ति में यह भंवरा उड़ जाता है ग्रौर प्रतीकों का एक नया सिलसिला शुरू हो जाता है। 'नाव चलाने वाले का मतलब तरक्क़ीपसंद ग्रदीब, 'सखियों' का मतलब प्राचीन साहित्य ग्रथवा परम्परागत मान्यताग्रों के पुजारी ग्रादि ग्रादि। पहले बन्द की तीसरी पंक्ति से ('राधा' के एतबार से) प्रतीकों का परस्पर सम्बन्ध कामोन्मुख हो जाता है। ग्रर्थात् सखियों ग्रथवा पुरानी मान्यताग्रों के पुजारियों की दृष्टि से प्रगतिशील साहित्य बलात्कार ग्रथवा ग्रश्लीलता मात्र है।

प्रतीकों के ग्रर्थ खोज खोजकर निकालो ग्रौर ग्रंत में इस मगजपच्ची का नतीजा यह कि खोदा पहाड़ निकला चूहा। मीराजी की एक कविता की पंक्ति यह है:—

चूम ही लेगा बड़ा ग्राया कहीं का कौवा

फैज़ ग्रहमद फैज़ ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है :—

"कवि की प्रेयसी पड़ी सो रही है। उसकी ग्रांख का काजल गाल तक बह ग्राया है। इस ढलके हुए काजल की सूरत कुछ कौवे से मिलती जुलती है ग्रौर कौवे से यही काजल ग्रभिप्रेत है। ज़ाहिर है कि इतनी दूर की कौड़ी लाना प्रत्येक व्यक्ति के बस का रोग नहीं।"

इस ग्रांदोलन का उद्देश्य ही साहित्य को जनसाधारण से दूर ले जाना, उसकी सामाजिक उपयोगिता को खत्म कर देना ग्रौर साहित्यकार को ग्रहंवादी ग्रौर स्वच्छंदताप्रिय ग़ैरज़िम्मेदार व्यक्ति बना देना था। मीराजी ग्रौर उनके ग्रनुयायियों ने इन प्रतीकों की भाषा में बहुत ही ग्रश्लील ग्रौर ग्रसामाजिक विषयों पर कविताएं लिखी हैं। उदाहरण के लिए मीराजी की एक कविता "लबे जूरा बार" है, जिसमें किसी स्त्री को पेशाब करते देखकर जो उत्तेजना उत्पन्न होती है, उसे व्यक्त किया गया है।

ग्रब इन्हीं प्रतीकों में ग्रख्तरउल-ईमान की नज़्म 'नई सुबह' के कुछ शेर देखिए जिसमें शायर ने वर्तमान समाज की जर्जर मान्यताग्रों को टूटते ग्रौर उसके साथ ही ग्राने वाले समाजवादी समाज का स्वप्न देखा है—

काले सागर की मौजों में डूब गईं धुंधली ग्राशायें
जलने दो यह दिये पुराने खुद ही ठंडे हो जायेंगे
सुर्ख़ ज़ुबाँ की नाज़ुक लौ पर जाग रही है एक कहानी
टूटे-फूटे जाम पड़े हैं सूनी-सूनी है कुछ महफ़िल—
धूप-सी जलकर बीत गई है साकी की मजबूर जवानी
क्या जाने कब सूरज निकले, बस्ती जागे, ग़म मिट जाये।

नई पौध के दो प्रमुख कवि ग्रख्तरउल ईमान ग्रौर मख़मूर जालंधरी पहले मीराजी के ग्रनुयायी थे, लेकिन जब सामाजिक शग़ूर बढ़ा तो वे तरक्क़ीपसंदों के साथ चले ग्राये। कहना नहीं होगा कि हिन्दी के प्रयोगवादियों की तरह शुरू शुरू में मीराजी ग्रौर उसके ग्रनुयायी भी तरक्क़ीपसंद कहलाते थे ग्रौर ग्रब वही तरक्क़ीपसंदी के कट्टर विरोधी हैं।

(पृष्ठ २२ का शेषांश)

प्रतीक का ग्रर्थ निश्चित होता है लेकिन बिम्ब में ऐसा नहीं होता। बिम्ब ग्रपने ग्रर्थ की पूर्णता के लिये बहुत कुछ प्रसंग पर या साथ ग्राये हुए ग्रन्य बिम्बों पर निर्भर करता है, साथ ही भिन्न पाठकों के मन में प्रतीक की भाँति वह एक ही भाव न जगाकर ग्रनेक ग्रौर बहुधा एक दूसरे से भिन्न एवं विलक्षण ग्रनुभूतियाँ जाग्रत करता है।

(पृष्ठ ४ का शेशांष)

प्रतिध्वनि यों सुनायी पड़ती है—

यह प्रकृत स्वयंभू, ब्रह्म, अयुत:
इसको भी शक्ति को दे दो।

अहं और कुण्ठा के परस्पर सम्बन्ध पर एक सूत्र सुन लीजिये। "अहं कुंठा को परिष्कृत करता है। कुंठा रुग्ण मन:स्थिति का द्योतक है; इसलिये उसमें दृष्टि का अभाव रहता है।" रोग का परिष्कार, दृष्टि-हीनता का परिष्कार; निवारण नहीं परिष्कार ! शायद कुंठावादी के अन्धेपन में अहंवाद के कारण कुछ निखार आ जाता है ! यह बात सही है कि कुंठा का सम्बन्ध रुग्ण मन:स्थिति से है। यह और भी सही है कि नयी कविता में इस कुंठा का बोलबाला है और तब से है जब शेखर का जन्म हुआ था। इसीलिये नयी कविता का यथार्थ जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है; वह अधिकतर रुग्ण मन:स्थितियों की उपज है या उनकी बचकानी नकल है। हम जीवन से पलायन नहीं करते, हम संघर्षों में जूझते हैं, हम बाधाओं और कठिनाइयों को चुनौती देते हैं, इस डींग के बल पर कविता में अहंवाद की प्रतिष्ठा की जाती है।

मैं उपेक्षित, व्यथित बालक
ज्यों पराये खिलौने को देखकर चुप हो गया सा,
फिर दुखित हो
लौट आता हूँ।

ऐसा है यह वीर अहंवादी। अथवा—

हवा अच्छी नहीं लगती। सांसों को रोको।
सब कुछ तुम्हारी बाहों में समर्पित है।
मुझे ताप दो—
भ्रूण में रूपाकृत हो जाऊं,
घुटने मोड़ कर सो जाऊं।

इस पर दावा यह है कि नयी कविता निष्क्रियता से मुक्त है। यह इच्छा जीने की है या भ्रूण बन कर फिर सो जाने की है ?

यह बात काफी सही है कि "यथार्थ की नीरसता, तिक्तता, विद्रूपता को सहन कर के नयी कविता मानव विशिष्टता और विवेक के आधार पर उसके नए स्तरों और संभावनाओं को विकसित करती है।" वाक्य का दूसरा भाग अप्रासंगिक है; मुख्य बात यह है कि नयी कविता यथार्थ की नीरसता की ओर ही अधिक झुकती है, सरसता, आशा और आनन्द की ओर नहीं। जुलाई-अगस्त १९५८ की "कल्पना" में श्री यज्ञदेव शल्य ने "नवीन काव्य-प्रवृत्तियाँ" नाम के लेख में श्री लक्ष्मीकांत वर्मा की "कली की जड़ें" शीर्षक कविता का हवाला देकर बहुत ठीक लिखा है, "जहाँ तक मैं समझता हूँ, इस कविता में कली को हंसाते रहने का कहीं विश्वास नहीं है, प्रत्युत् कवि जान बूझ कर निराशा, कुंठा और वीभत्सता (वीभत्स रस नहीं) की सृष्टि कर रहा है।" साहित्य में नीरसता का चित्रण वर्जित नहीं है, शर्त यही है कि उसके चित्रण से साहित्य भी नीरस न हो जाय। नयी कविता नीरसता और विद्रूपता को सहन हीं नहीं करती, उसे वहन भी करती है जिसके फलस्वरूप वह स्वयं नीरस बन जाती है।

लक्ष्मीकान्त जी ने सौन्दर्यबोध के नये तत्वों पर एक अध्याय ही लिख डाला है। यह अनावश्यक था। मुख्य बात यह कि आप काव्य-सौन्दर्य को भूल ही जाइये, तभी आप नयी कविता को सहन कर सकेंगे। सौन्दर्य के इस अभाव की अनुभूति श्री लक्ष्मीकान्त को भी हुई है। नयी कविता की विशेषताओं में एक यह भी है कि उसकी "विषयवस्तु और उसका भावस्तर मिथ्या कलाप्रियता की अपेक्षा उस सत्य को कहीं श्रेयस्कर समझता है जो महान् न होते हुए भी मानवीय हो सकता है।" नयी कविता ने किस तरह के सत्य का अन्वेषण किया है, उसके कुछ नमूने हम ऊपर देख चुके हैं। यह सत्य इतना महत्वपूर्ण है कि उसके लिये सौन्दर्य को "मिथ्या कलाप्रियता" कह कर तिलाञ्जलि दे दी गयी है। यह नयी कविता के अकवित्व का समर्थन है, नीरसता के पक्ष में दी गई दलील है।

लक्ष्मीकान्त जी का कहना है कि "नयी कविता के साथ उसका [अर्थात् नये कवि का] विश्वास उस मानव के प्रति है जो बड़ा भले न हो किन्तु लघु होने के साथ-

साथ अपने प्रति जागरूक है।" यह बात बहुत पहले प्रसाद जी ने छायावाद और यथार्थवाद की चर्चा करते हुए लिखी थी। उस लघु मानव की प्रतिष्ठा "तितली" में, निराला जी के रेखाचित्रों में, प्रेमचन्द के उपन्यासों में, सुमन, नरेन्द्र आदि की अनेक कविताओं में मिलेगी। निःसंदिग्ध रूप से "नयी कविता" का सम्बन्ध लघु-मानव से नहीं है; उसका सम्बन्ध हमारे मध्य वर्ग के कुछ नौजवानों से है जो लघुमानव से बहुत दूर हैं और विदेश के एकाधिकारी पूंजीवाद द्वारा प्रचारित साहित्य और संस्कृति के बहुत निकट हैं।

यह धारणा भी सही नहीं है कि नयी कविता में प्रकट होने वाली कुंठा आज के मध्यवर्ग की स्थिति प्रतिबिंबित करती है। "ओ अप्रस्तुत मन !" के लेखक श्री भारतभूषण अग्रवाल ने उसके वक्तव्य में अपनी कविताओं के बारे में लिखा है, "वे एक साधारण मध्य-वर्गीय मन की सच्ची तस्वीरें हैं। पर उनमें—उनमें से प्रत्येक कविता में—मध्यवर्गीय मन की सच्ची छटपटाहट आपको मिलेगी, इतना दावा मैं जरूर कर रहा हूँ।" मध्यवर्ग के लोग कवि-सम्मेलनों में गीतों का रसास्वादन करते हैं। नयी कविता के पाठकों में मध्यवर्ग के साधारण जनों की अपेक्षा "नये कवि" ही अधिक हैं। श्री-भारतभूषण अग्रवाल ने लिखा है कि हिन्दी कविता "सबसे कम पढ़ी जाती है।" यह बात नहीं है। हिन्दी कविता खूब पढ़ी जाती है, उससे भी ज्यादा सुनी जाती है लेकिन "नयी कविता" सबसे कम पढ़ी जाती है या प्रायः नहीं पढ़ी जाती, यह सच है।

मध्यवर्ग के साधारण जन इलियट और पाउंड के भक्त नहीं हैं, न उनकी चिन्तन-पद्धति उनकी समझ में आती है। अपने जीवन में वे राष्ट्रीय और अन्तर-राष्ट्रीय घटनाओं के बारे में भी सोचते हैं, देश के नव-निर्माण के बारे में सोचते हैं।

वे नये कवियों की तरह अहंवाद के घोंघे में बन्द नहीं रहते। मध्यवर्ग की चर्चा पतनशील पूंजीवाद की संस्कृति—वह भी हिन्दुस्तान का पूंजीवाद-नहीं, यूरोप और अमरीका के मरणोन्मुख पूंजीवाद की संस्कृति—को छिपाने के लिये की जाती है। इस कुंठा और घुटन का मूल स्रोत वह भय है जो उपनिवेशों के स्वाधीनता आन्दोलन और समाजवादी देशों के द्रुत विकास से उत्पन्न हुआ है। आज एशिया और अफ्रीका के स्वा-धीनता-आन्दोलन अप्रतिहत वेग से आगे बढ़ रहे हैं। श्री सर्वेश्वर दयाल को, श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा को, श्री धर्मवीर भारती को, श्री भारत भूषण अग्रवाल और श्री अज्ञेय को इनमें लघुमानव के दर्शन नहीं होते ! शता-ब्दियों से पद-दलित इन देशों की मानवता आज अपना भविष्य निर्माण करने के लिये बढ़ रही है। लेकिन लघुमानव के हामी इन नये कवियों के अन्ध हृदयकूप में भावों के केचुए रेंग रहे हैं ! उपनिवेशों के स्वाधी-नता-आन्दोलनों को समाजवादी शक्तियों का प्रबल सम-र्थन प्राप्त है। मिस्र में लुटेरे घुसे लेकिन बेआबरू होकर निकलना पड़ा। जौर्डन और लबनान में घुसे हैं, बेआबरू होकर निकलेंगे। इसलिये साम्राज्यवादियों को समाजवादी देशों का अस्तित्व फूटी आँखों नहीं सुहाता। हमारे नये कवियों को भी समाजवादी देश कला, संस्कृति और मानवता के कठघरे लगते हैं। उन्हें शांति कपोतों से चिढ़ है क्योंकि वे भारत में भी उड़ने लगे हैं। इसलिये अपने कुछ विरल क्षणों में अहं के दायरे से बाहर आकर अन्तरराष्ट्रीय परिस्थिति का अवलोकन करके नये कवि महोदय कहते हैं :

> मुझे इसमें भी ऐतराज़ नहीं है
> कि शान्ति लिखने के बाद
> तुम एक क्षण को भी नहीं रुके,
> तुम्हारे सर ऊपर नहीं उठ सके,
> तुम्हारे होठों पर मुस्कान नहीं आई
> तुम तीर से अलग-अलग दिशाओं में
> अपना अपना मुंह छिपा कर चले गए,
> जहाँ तुम्हारी फौजें तुम्हारा
> इन्तज़ार कर रही थीं;
> महज़ इसलिये
> कि मुझे विश्वास है
> कि तुम्हारी आँखों के सामने

पिकासो का शान्ति-कबूतर ही था,
जिसे अगली बार युद्ध क्षेत्रों में
मार्च करते हुए विशाल टैंकों पर
तुम सुन्दरता के साथ
लगाने की बात सोच रहे थे।

प्रयोगवादियों के यथार्थवाद की परिणति शान्ति-आन्दोलन का विरोध करने में होती है। हर तरह की संगठित और सामूहिक कार्यवाही से इनका अहं पीड़ित हो उठता है और कुंठा उसी घुटन के चीत्कार से आसमान गुंजा देती है। इनके यथार्थवाद में समाजवाद के लिये जनता के संघर्ष को स्थान नहीं, राष्ट्रीय नव निर्माण को स्थान नहीं, देश-विदेश के स्वाधीनता आन्दोलन और विश्वशान्ति के लिये किये हुए प्रयत्नों को स्थान नहीं, जिन सामाजिक समस्याओं का चित्रण प्रेमचंद, प्रसाद, निराला ने किया है, उनके लिये स्थान नहीं। इनका तथाकथित लघुमानव त्रिशंकु की तरह आसमान में लटका है और ये नीचे से उसकी आरती उतारा करते हैं। इनका क्षुद्र अहंवाद राष्ट्रविरोधी और समाजविरोधी है। दुख और घुटन की बातें बहुत करते हैं लेकिन उसमें गरीबों का दुख शामिल नहीं है। गरीबों के दुख की बात तो प्रगतिवाद हो जायगी! यदि गरीब मज़दूरों, मध्यवर्ग के बेकारों, बेदखल किसानों की बात की तो व्यक्ति की स्वाधीनता का खात्मा ही हो जायगा! कुछ अपने ही सुख-दुख की बातें ढंग से करें सो भी नहीं। लक्ष्मीकान्त जी की यह बात एक दम सही है कि "आज के [अर्थात् नयी कविता के रचयिताओं के—सं०] दृष्टिकोण में विशेषत: बौद्धिक अनुभूति ही प्रधान है।" कुंठा और घुटन की अनुभूति भी इन्हें बौद्धिक स्तर पर हुई है। दूसरे शब्दों में पुस्तकें पढ़ कर इन्होंने अपने मन को एक रुग्णावस्था में ढाल लिया है और इस आत्म-सम्मोहन की दशा में "नयी कविता" लिखते हैं।

अस्तु: यह सत्य है कि नयी कविता का संबन्ध अहंवाद से है किन्तु यथार्थ जीवन से यह कविता बहुत दूर है। रस, आनन्द, आशा, और जीवन की स्वीकृति दूसरों को—शायद अपने मन को भी—बहलाने के लिये है। वास्तविकता है, नीरसता, विद्रूपता, निराशा और कुंठा। यह कविता मध्यवर्ग के जीवन से भी असंबद्ध है। इसीलिये जितने उसके लिखने वाले हैं, लगभग उतने ही उसके पढ़ने वाले भी हैं। वह यथार्थ जीवन का विरोध करने वाली है, वह जीवन की अस्वीकृति और वीभत्स की स्वीकृति है। नये कवि और नयी कविता के प्रचारक समाजवाद के विरोधी और व्यक्तिवाद के समर्थक हैं। बेचारों ने व्यक्तित्व की बहुत खोज की लेकिन वही उन्हें न मिला। धरती से अलग होकर हवा में गुलाब का फूल कैसे खिलता? श्री लक्ष्मीकान्त तथा अन्य अतुकान्त मित्रों के लिये "नयी कविता" (अंक दो) में प्रकाशित डॉ० देवराज की यह चेतावनी विचारणीय है। डॉ० देवराज के अनुसार प्रयोगवाद की एक बड़ी कमी है, "कवियों में व्यक्तित्व की कमी या अभाव। इस कमी के मूल में पारस्परिक अनुकरण या होड़ की प्रवृत्ति भी है, और गंभीर साधना का अभाव भी। कवियों की साम्प्रदायिक-जैसी दीखनेवाली एकता—शैली अर्थात् मुहावरों, चित्रों, लय-विधान आदि की समानता—जहाँ उन्हें संगठन का बल देती है, वहाँ उनके व्यक्तित्वों को अनिर्दिष्ट भी बना देती है।" कोई भी ईमानदार पाठक इस सत्य को अस्वीकार न करेगा।

—रामविलास शर्मा

विदेशी मार्क्सवादी साहित्य-समीक्षा

डॉ० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव

प्रथम महायुद्ध की घटना अपने में इतनी विशिष्ट थी कि उसने भारतीय जन-जीवन की दृष्टि को अपनी संकुचित परिधि तोड़कर विश्व के अन्य भागों की ओर भी देखने के लिए विवश किया। चैतन्य होकर भारतीयों ने विदेशों में होने वाली घटनाओं के भी अध्ययन की ओर ध्यान देना प्रारम्भ किया। साथ ही भारत की राष्ट्रीय चेतना जिस राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक रेखाओं के विकास के लिए तत्पर एवं उत्सुक थी उसके लिए नवनिर्माण के नूतन मानदण्ड की आवश्यकता थी और उसकी इस आवश्यकता की पूर्ति पूर्वी एवं पाश्चात्य दोनों क्षेत्रों के संचित ज्ञानभण्डार की आधारशिला पर ही होना संभव था। इसलिए उसे समय के जागरूक एवं उद्बुद्ध वर्ग (Intelligentsia Class) ने जब एक तरफ भारत के अतीत गौरव की ओर दृष्टि-निक्षेप किया उस समय उन्होंने पाश्चात्य सभ्यता की अमूल्य देन —वैज्ञानिक सिद्धान्तों की सटीक व्याख्या की भी उपेक्षा नहीं की। सामाजिक परिवर्तन एवं बदलती हुई इस मूल्याङ्कन वृत्ति से हिन्दी-साहित्य प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। जिस प्रकार पाश्चात्य प्रभाव से भारतीय समाज प्रभावित हो रहा था, उसी प्रकार समाज की चित्तवृत्तियों की अभिव्यंजना करने वाला भारतीय साहित्य भी।

यह बताने की आवश्यकता नहीं कि किस प्रकार सन् १९३५ तक आते आते मार्क्स के दर्शन ने भारत के राजनैतिक नेताओं की विचारधारा को अपने सिद्धान्तों द्वारा उद्वेलित कर दिया था, किस प्रकार भारतीय जन-जीवन के लिए भी वे मार्क्स के समाजवादी सिद्धान्त की उपयोगिता को स्वीकार करने लगे थे। सच तो यह है कि साहित्य में यही उपयोगिता "प्रगतिवाद" के नाम से व्यक्त हुई। यह ठीक है कि मार्क्सवाद कोई साहित्यशास्त्र नहीं है, पर वह एक जीवन-दर्शन है, अतः प्रत्येक मानव-कर्म की व्याख्या उसके द्वारा प्रस्तुत की जा सकती है। साहित्य, मानव-समाज के अन्तस्तल में प्रवाहित होने वाली रसात्मक धारा की भाषाबद्ध अभिव्यक्ति है, अतः साहित्य की भी व्याख्या मार्क्सवादी विचार प्रणाली एक निश्चित दृष्टिकोण से प्रस्तुत करती है।

विदेशी साहित्य में मार्क्सवादी दृष्टिकोण से लिखे गये लेख एवं प्रसिद्ध मार्क्सवादी आलोचकों की साहित्यपरक धारणाओं का भी प्रगतिवाद पर व्यापक प्रभाव पड़ा। इन धारणाओं को हिन्दी-साहित्य में अपनाने की वृत्ति १९४० तक आते-आते इतनी उग्र हो गई कि संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध साहित्यकारों एवं साहित्य-शास्त्र के पंडितों तथा समकालीन भारतीय प्रमुख साहित्यकारों एवं आलोचकों की उपेक्षा कर विदेशी-मार्क्सवादी-साहित्यिक समीक्षकों की उक्तियों को प्रधानता दी जाने लगी थी। समीक्षकों में बेलिंस्की, चर्नीशेव्सकी, प्लेखानोव, काडवेल, हावर्ड फास्ट, गोर्की, ट्राट्स्की, राल्फ-फॉक्स, माओ-त्से-तुंग, इल्या-इरेनबुर्ग, जार्ज ल्यूकाम्स के नाम विशेष रूप से उद्धृत मिलते हैं।

साहित्य के क्षेत्र में मार्क्सवादी दृष्टिकोण का भी अपना एक इतिहास है। अपने विकास की गति में इसको कई रूप ग्रहण करने पड़े, जिसको सुविधा की दृष्टि से हम निम्नलिखित भागों में विभाजित कर सकते हैं :—

(१)

आदर्शवाद समन्वित भूतात्म तत्व के आग्रह की अवस्था–

इस काल के समीक्षकों में विशेष रूप से तीन व्यक्तियों के नाम उल्लेखनीय हैं जिन्होंने रूसी-साहित्य में गहराई तक धंसी असामयिक सामंतशाही प्रवृत्तियों की तीव्र आलोचना कर साहित्य को जनसाधारण के साथ सम्पर्क स्थापित करने में अपरिमित सहायता दी, और वे हैं बेलिंस्की, चर्नीशेव्सकी, और दोब्रोल्यूबोव। इनमें भी बेलिंस्की का नाम सबसे अधिक आदर के साथ लिया जाता है।

बेलिंस्की एक निर्भीक, क्रान्तिकारी आलोचक था। उसकी दृष्टि इतनी सीधी एवं पैनी थी कि आलोचना के समय उसके एवं आलोच्य वस्तु के बीच कोई व्यवधान शेष नहीं रह जाता।[1] आलोचना की इस तीक्ष्ण दृष्टि का ही परिणाम था कि गोगल को महान साहित्यकार के रूप में स्वीकार करते हुए उसने उसकी रचनाओं से ध्वनित सामन्तवादी विचारधारा की कटु आलोचना भी की। गोगल के नाम लिखा हुआ उसका पत्र[2] उसकी सूक्ष्म अन्वीक्षण शक्ति का ही परिचय नहीं देता अपितु उसके हृदय में लोक-कल्याण की जो अजस्र धारा प्रवाहित हो रही थी, उसको भी स्पष्ट कर देता है। जुलाई, ३, सन् १८४७ को लिखा हुआ उसका यह पत्र आने वाली पीढ़ी के लिए क्रान्ति का जलता मशाल बन गया।

बेलिंस्की एवं इस युग के अन्य आलोचक (चर्नीशेव्सकी एवं दोब्रोल्यूबोव) साहित्य को निरा मनोरंजन का साधन नहीं समझते थे। बेलिंस्की के अनुसार समाज कल्याण की भावना से कला को वंचित करने का अभिप्राय है कला को विकृत करना।[3] चर्नीशेव्सकी के मत में भी कला को मनोरंजन का साधन न होकर किसी न किसी आवश्यक लक्ष्य की पूर्ति में सहायक होना ही चाहिए। "धन का अस्तित्व इसलिए है कि मनुष्य उसका उपयोग करे, विज्ञान इसलिए है कि वह मनुष्य का मार्गनिर्देश करे, उसी प्रकार कला को भी केवल मनोरंजन के लिये न होकर किसी न किसी सारभूत लक्ष्य की पूर्ति में योग देना ही चाहिए।"[4]

इस काल में अवसर एवं आकस्मिकता (Chance) के सिद्धान्त का भी तीव्र विरोध हुआ। किसी भी घटना का घटित होना किसी निश्चित आवश्यकता का परिणाम होता है। कार्य-कारण की परम्परा के परिदृश्य में ही हम किसी भी वस्तु को उसकी सम्पूर्णता के साथ जानने में समर्थ हो सकते हैं। इसलिए आलोचकों ने लिखा—"महान् ऐतिहासिक घटनायें आकस्मिक रूप से

नहीं घटतीं। वे अपनी पूर्ववर्ती घटनाओं की ही आवश्यक परिणति होती हैं।'[५]

जिस विचार पद्धति का बीज 'मिच्यूरिन' के द्वारा जीवविज्ञान के क्षेत्र में डाला गया, तत्पश्चात् 'लाइसेन्को' ने जिसको अंकुरित होने में सहायता दी, वह इस युग में पहले ही अपनाया जा चुका था। मनुष्य की आन्तरिक प्रवृत्ति मूलत: 'सेल' (cell), क्रोमोजोम (Chromogome), जीन (Gene) आदि तत्वों द्वारा निर्धारित नहीं होती। व्यवहार एवं आन्तरिक भावनाओं को मुख्य रूप से निर्धारित करने वाला तत्व, व्यक्ति के चारों ओर फैला हुआ सामाजिक वातावरण होता है। 'बुराई मनुष्य में नहीं अपितु समाज में प्रच्छन्न रूप से रहती है।'[६]

कलाकार की भावनाओं के विश्लेषण के लिए हमें अपनी दृष्टि को कलाकार की अनुभूतियों तक ही सीमित नहीं कर देना चाहिए। उसके उचित विश्लेषण के लिए यह आवश्यक है कि उन अनुभूतियों के प्रेरक यथार्थ-तत्व (Reality) की तह तक आलोचकों की पहुँच हो क्योंकि व्यक्ति की स्वानुभूति यथार्थ-तत्व को निर्धारित नहीं करती, अपितु यथार्थ ही स्वानुभूति की प्रकृति का निर्णायक होता है।[७] इसीलिए इस युग के आलोचकों ने काव्य को सामाजिक यथार्थ के परिदृश्य में देखने का आग्रह किया।

इस युग के प्राय: सभी आलोचकों ने भूत-तत्व (Matter) के साथ-साथ आत्म-तत्व (Spirit) की सत्ता को स्वीकार किया है। जिस प्रकार स्थूल शरीर और सूक्ष्म प्राण तत्व के योग से ही जीवित मनुष्य की सार्थकता का बोध होता है, उसी प्रकार कलाक्षेत्र में भी सजीवता तभी आ पाती है जब उसका रूप तत्व (Form) कलाकार की आन्तरिक चेतना एवं सूक्ष्म भावनाशक्ति (Spirit) द्वारा अनुप्राणित हो। आत्मतत्व विहीन भूत तत्व का कला के क्षेत्र में कोई स्थान नहीं। क्योंकि वह मात्र "शव" है, माँस का एक स्थूल लोथड़ा, जिसको आकार तो मिला है पर प्राण नहीं। पर साथ ही आत्मतत्व निराकार एवं सूक्ष्म होने के नाते स्वयं अपने में तबतक अनुभवगम्य नहीं होता, जब तक वह अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं ढूंढ़ लेता। उसको प्रगट होने के लिए भूत-तत्व का आसरा लेना ही पड़ता है, अत: ये दोनों तत्व एक दूसरे के पूरक हैं। वस्तु की सम्पूर्णता के लिए दोनों तत्व की उपस्थिति आवश्यक है।[८]

कला-क्षेत्र में आत्म-तत्व की सत्ता को स्वीकार कर लेने के पश्चात् रचयिता के प्रभाव की भी अस्वीकृति संभव नहीं हो सकती। अत: इस युग के आलोचकों ने कलाकार के व्यक्तित्व की महत्ता को शिरसा स्वीकार करते हुए कला की व्याख्या आन्तरिक अनुभूति की रूपगत अभिव्यक्ति के रूप में ही की है। व्यक्तित्व की महत्ता को स्वीकार करता हुआ बेलिंस्की कहता है कि कलाकार का "स्व" ही वह माध्यम है जिसके द्वारा वस्तु एवं वस्तु द्वारा उत्प्रेरित भाव एवं विचार साहित्य में अभिव्यक्ति पाता है।[९] साथ ही वह उन समस्त कलाकारों को धिक्कारता है जो अपनी आंतरिक अनुभूति की प्रेरणा से प्रेरित होकर कला की रचना नहीं करते, प्रत्युत धन के लिए काव्य रचना में प्रवृत्त होते हैं।[१०] चर्नीशेव्सकी एवं दोब्रोल्यूबोव ने भी ऐसे लोगों की भर्त्सना की है।[११]

कला की परिभाषा देते हुए इन विचारकों ने कहा— 'कला सत्यनिष्ठ वस्तु एवं कृतियों का मूर्त-छवियों के माध्यम द्वारा किया गया तात्कालिक चिंतन है।'[१२] लिफार्शट्स के अनुसार 'वास्तविक जीवन की रूपगत अभिव्यक्ति ही मूर्तछवि है।'[१३] एक ओर 'तात्कालिक चिंतन' कहकर आत्मगत प्रेरणातत्व (Inspiration) की माँग की गयी है।[१४] और दूसरी ओर मूर्त-छवियों द्वारा वास्तविक जीवन की रूपगत अभिव्यक्ति पर भी जोर दिया गया है। साथ ही यह कहकर कि "काव्य **संभावित** यथार्थ का रचनात्मक रूपान्तर है"[१५] उस 'कल्पना' (Imagination) तत्व के भी योग को अपेक्षित समझा गया है जिसके आधार पर कलाकार उन समस्त तथ्यों का अंकन करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया जाता है जिसको वह कल्पना शक्ति द्वारा

यथार्थ का रूप दे सकने में समर्थ हो । यथार्थ के साथ जुड़ा हुआ "संभावित" शब्द इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि कलाकार न तो फोटोग्राफर है और न इमिटेटर । वह एक स्रष्टा है, व, अपनी 'कल्पना' द्वारा किसी भी रूप एवं अनुभूति का चित्रण करने के लिए वह पूर्णतया स्वतन्त्र है; शर्त केवल एक है कि उसकी कल्पना द्वारा उद्भूत संसार यथार्थ की संभावना से परे न हो ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस युग के आलोचकों ने मूलतत्व के साथ आत्मतत्व को भी कला का एक अभिन्न अंग समझा, साहित्य की समाजगत उपयोगिता के साथ व्यक्ति की अनुभूति एवं भावनाशक्ति की भी आत्म-प्रतिष्ठा की तथा कला के मूल उपादान को दृश्य जगत की सीमा में बाँधते हुए भी कलाकार की कल्पना शक्ति की उपयोगिता को स्वीकार किया । एक ओर यह लिखा कि "बुराई मनुष्य में नहीं अपितु समाज में प्रच्छन्न रूप से रहती है" अतः सामाजिक ढाँचे में जबतक आमूल परिवर्तन नहीं होता व्यक्ति की सांस्कृतिक चेतना में भी परिवर्तन संभव नहीं और दूसरी तरफ व्यक्ति के "स्व" की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए यह भी कहा है कि उसका 'स्व' ही वह मूल उपादान है जिसके माध्यम द्वारा व्यक्ति अन्य वस्तुओं एवं विचारों का विरोध करता है या समर्थन ।

यहाँ पर यह भी कह देना आवश्यक है कि अपने जीवन के अंतिम चरण में बेलिंस्की, मार्क्स की कृतियों से प्रभावित अवश्य हुआ था, पर उसे मार्क्सवादी नहीं कहा जा सकता । उसकी दृष्टि में जनकल्याण की भावना थी, साहित्य की सामाजिक उपादेयता को वह भी स्वीकार करता था, पर जिस "द्वंद्वात्मक-भौतिक-वाद" की वैज्ञानिक प्रणाली को मार्क्सवादी आलोचक स्वीकार करता है, उस सीमा तक उसके विचारों का विकास नहीं हो पाया था । वह आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का समर्थक था । जीवन-दृष्टि एवं साहित्यिक मान्यताओं पर विचार करते हुए यह कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य में प्रेमचन्द का जो ऐतिहासिक महत्त्व है वही बेलिन्स्की का रूसी-साहित्य के क्षेत्र में है ।

(२)
भूत-तत्व (Matter) के आग्रह की अवस्था
(क) कविता की आलोचना

समाजवादी समीक्षा के प्रथम काल में जिस शरीर (भूत तत्व) एवं आत्मा (आत्म-तत्व) के सामन्जस्य पर बल दिया गया था तथा एक दूसरे का जिसे पूरक सिद्ध करने का प्रयत्न हुआ था वह स्थिति इस काल के आलोचकों को मान्य नहीं हुई । साथ ही मार्क्सवाद के "द्वन्द्वात्मक-भौतिकवाद" को उचित रूप में हृदयंगम नहीं करने के कारण इस काल के आलोचकों की दृष्टि केवल भूत-तत्व पर ही संकुचित होकर रह गयी । मार्क्स द्वारा प्रतिपादित "इतिहास का आर्थिक आधार" के सिद्धांत की व्याख्या एवं उस व्याख्या द्वारा इतिहास की आरोपित विवेचना ही उनका लक्ष्य हो गया । इसी कुत्सित-समाज-शास्त्री तुला पर काव्य के मूल-तत्वों का आकलन करने का प्रयास इस युग में हुआ ।

किसी भी वस्तु के सम्पूर्ण बोध के लिए उसके ऐतिहासिक पक्ष का ज्ञान आवश्यक होता है । "कविता" को समझने के लिए कविता के मूलोद्गम एवं उसकी व्युत्पत्ति का भी ज्ञान आवश्यक था । इस युग में इस पक्ष पर विशेष बल दिया गया । काव्य के मूलोद्गम का विवेचन इसके पूर्व न हुआ हो, ऐसी बात नहीं । पर मार्क्सवादी-आर्थिक-आलोचना पद्धति का सहारा लेकर काव्य को मूलत: आर्थिक समझने की प्रवृत्ति को इसी काल में प्रश्रय मिला ।

कला को मूलतः आर्थिक सिद्ध करने के प्रयास का ही परिणाम था कि प्लेखानोव ने लिखा—"मेरे विचार से कला का समाज की आर्थिक व्यवस्था से गहरा सम्बंध है ।" [१६] अपने समय का सर्वाधिक शक्ति-शाली आलोचक काडवेल भी कला की व्युत्पत्ति पर विचार करते हुए लिखता है—"काव्य अपने आधाररूप में न तो जातीय है और न राष्ट्रीय । वह मूलत: आर्थिक होता है ।" [१७] काडवेल के सिद्धान्तों का अनुकरण करते हुए जार्ज थाम्सन भी यही कहता है कि कला के उद्भव

एवं विकास में एकमात्र आर्थिक परिस्थितियों का ही हाथ रहा है।[१८]

इस मत के आलोचकों के अनुसार कला का अध्ययन इतिहास की भौतिक व्याख्या के परिदृश्य में ही करना उचित होगा। इसके मतानुसार कलात्मक सौन्दर्य (Aesthetic) के मूल में श्रम (Labour) रहता है अर्थात् श्रम की प्रकृति के अनुसार ही कलाकार की रुचि-अभिरुचि, कला का विषय (Content) तथा शिल्प-विधान (Form) आदि के स्वरूप एवं प्रकृति का निर्धारण होता है। बुचर एवं स्पेंसर ने मनोविनोद (Play) को ही कला के मूल में होना बताया है। मनोविनोद की प्रवृत्ति ही कला की भावना को जन्म देती है। उनके इस विचार का खण्डन करते हुए प्लेखा-नोव ने इस तथ्य का प्रतिपादन किया कि कला के मूल में मनोविनोद की भावना नहीं, श्रम का कारण निहित रहता है। मनोविनोद की भावना का जन्म तो श्रम के रूप-निर्धारण के बाद होता है।

प्लेखानोव के मतानुसार श्रम (Labour) गर्भ से ही मनोविनोद रूपी बालक का जन्म होता है।[१९] मनोविनोद का प्रथम स्वरूप तो सदा उपयोगितावादी सिद्धान्त की भित्ति पर आधारित होता है। अपने इस कथन को अनेक उदाहरणों द्वारा प्रतिपादित करने का वह भगीरथ प्रयत्न करता है। एक उदाहरण में वह यह स्पष्ट करने का प्रयत्न करता है कि क्यों आदिम मानव अपने नृत्य में जंगली जानवरों के अवयवों के संचालन (Movement) का अनुकरण करते थे ? वह इसको आखेट की प्रक्रिया में प्राप्त सुखानुभूति के पुन: अनुभव की मांग का परिणाम घोषित करता है। सील मछली का शिकार करते समय जिस प्रकार इस्कीमो जाति के व्यक्ति अपने पेट के बल रेंग कर चलते हैं, जिस प्रकार मछली स्वयं अपने सिर का संचालन करती है, ठीक उसी की अनुकृति इस्कीमो अपने सामूहिक-नृत्य में करते देखे जाते हैं। प्लेखानोव के अनुसार वास्तविक सुखानु-भूति मूलरूप में शिकार के क्रिया व्यापार में ही निहित थी। नृत्य तो एक बार फिर उस सुखानुभूति के अनुभव की प्राप्ति का साधन है अर्थात् श्रम (Labour) और मनोविनोद (Play) में वह बीज और वृक्ष का सम्बंध मानता है।

काडवेल के अनुसार भी कोई भी कला अपने मूल में किसी न किसी उपयोगिता की ही सिद्धि के प्रयास का परिणाम होता है। पर अपनी विवेचना में वह प्लेखा-नोव से अधिक वैज्ञानिक है। उसके अनुसार काव्य, सामूहिक भावों (Collective Emotion) की अभिव्यक्ति का हेतु मात्र है।[२०] वह भी काव्य के मूल में आर्थिक-व्यवस्था को ही मानकर उसके विकास का इतिहास प्रस्तुत करता है। पर उसके अनुसार काव्य की उत्पत्ति मानव समाज के सामूहिक-भाव की अभिव्यंजना के फलस्वरूप हुई है। सामूहिक भाव एवं उसकी यह अभिव्यंजना पद्धति, तत्कालीन आर्थिक-व्यवस्था से प्रभावित होती है। उस समय की आर्थिक-व्यवस्था ही वास्तविकता (Reality) है और उससे प्रभावित सामू-हिक भावों की अभिव्यंजना का प्रयास उस वास्तविकता के ऊपर आरोपित मिथ्यावरण (Illusion) है।[२१]

इसी तथ्य को जार्ज थाम्सन कुछ सरल ढंग से स्पष्ट करता है। जंगली 'माओरिस' जाति में 'पोटेटो डांस' (Potato Dance) की प्रथा का प्रचलन है। वहाँ के इस नृत्य-समारोह का आयोजन आलू के खेतों में ही होता है। उस जाति के स्त्री-पुरुष एकत्रित होकर एक निश्चित ढंग से नृत्य करते हैं। इस नृत्य के स्वरूप की व्याख्या करते हुए थाम्सन का कथन है कि इस नृत्य-विधान का वहाँ की आलू-उत्पादन-व्यवस्था से सीधा सम्बन्ध है।

वहाँ आलू की खेती को पूर्वी-हवा के अंधड़ से नष्ट होने की सदा आशंका बनी रहती है। नृत्य-समारोह में स्त्री-पुरुष अपने अंगों के परिचालन के माध्यम द्वारा इसी अंधड़ के आने का आभास देते हैं और अपने इस नृत्य के साथ जो गान गाते हैं उसके द्वारा वे आलू के पौधों को उनका अनुकरण करने के लिए आमंत्रित भी करते जाते हैं। साथ ही इस विश्वास के कारण कि उनका यह नृत्य, पूर्वी अंधड़ के झोंकों से उनके खेत एवं पैदा-

वार की रक्षा करेगा, वे अपने कार्य में और भी उत्साह से संलग्न हो जाते हैं।[२३] यही मैजिक (Magic) है जो यथार्थ (Reality)—उत्पादन-रीति एवं व्यवस्था—पर पर एक मिथ्यावरण (Illusion) आरोपित करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि इसी तरह आदिम समाज की आर्थिक-व्यवस्था के गर्भ से कला का जन्म होता है अर्थात् यथार्थ (Reality) की भूमि से मिथ्या (Illusion) का वीज अंकुरित होता है।

एंगेल्स का यह मत रहा है कि किसी भी क्रिया-व्यापार की प्रेरक एवं प्रभावित करने वाली अनेक शक्तियों में आर्थिक-व्यवस्था एक मुख्य शक्ति होती है, पर वही सर्वेसर्वा रहती है, यह उसने कभी स्वीकार नहीं किया।[२३] उसके अनुसार यह कहना नितान्त भ्रामक है कि आर्थिक व्यवस्था ही एक मात्र होती है और अन्य तत्व निष्क्रिय रहते हैं।[२४] एंगेल्स ने स्पष्ट स्वर में यह स्वीकार किया है कि आलोचकों द्वारा भूत-तत्व एवं आर्थिक समस्या का अपनी विवेचना में इतना आग्रह करना उचित नहीं और इस भ्रांत धारणा के प्रसार में उसने अपने को और मार्क्स को एक सीमा तक उत्तरदायी भी ठहराया है।[२५]

मार्क्स के ''द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' के सिद्धान्त का उचित रूप में हृदयंगम नहीं करने का ही परिणाम था कि इस युग के आलोचकों ने कलाकार के व्यक्तित्व-पक्ष की पूर्ण उपेक्षा की। जिस आत्म-तत्व (Spirit) को बेलिन्स्की ने कला के प्राण रूप में ग्रहण किया था, मनुष्य की जिस स्वानुभूति एवं व्यक्तिगत विचार का होना साहित्य के लिए अपेक्षित कहा था, प्लेखानोव, काडवेल आदि आलोचकों द्वारा वे तत्व साहित्यिक क्षेत्र में मनोनीत नहीं हुए।

बेलिन्स्की ने लिखा है कि जिस साहित्य की रचना साहित्यकार के अन्तर में उठी किसी अभिलाषा का परिणाम नहीं होता, वह साहित्य, साहित्य नहीं है। मार्क्स और एंगेल्स भी व्यक्ति की चेतन-सत्ता को स्वीकार करते हैं। पर प्लेखानोव के अनुसार—'कलाकार का कोई व्यक्तिगत दायित्व नहीं। अन्य उसे न प्रोत्साहित कर सकते हैं न निरुत्साहित। उसकी प्रशंसा या निन्दा करना भी व्यर्थ है। वह वही लिखता है जो उसे लिखना पड़ता है।'[२६] काडवेल भी काव्य में किसी अनुभूति का होना आवश्यक नहीं समझता। उसके अनुसार कला केवल एक मशीन के समान है जिसे कलाकार एवं श्रोता दोनों को एक भौतिक क्रिया-व्यापार के रूप में ग्रहण करना चाहिए।[२७] काडवेल जैसे आलोचकों का ही प्रभाव था कि 'मायकावस्की' ने लिखा—'मैं आनन्द की रचना करने वाला रूस का कारखाना हूँ।'[२८]

इस युग की उपलब्धियों में सर्वाधिक प्रमुख उपलब्धि है कला के आदर्शवादी स्थान पर उसके यथार्थवादी स्वरूप की स्थापना। पर साथ ही विषय-वस्तु पर अधिक बल देने के कारण वे समाजवादी यथार्थवाद के वास्तविक स्वरूप को पहचान न सके। कला का आर्थिक व्यवस्था के साथ सीधा (Direct) सम्बन्ध-स्थापन की प्रवृत्ति ने उनकी कला-सम्बन्धी मान्यताओं को एकांगी एवं विकृत कर दिया था। काडवेल ने कला-शिल्प के विधान के मूल में भी आर्थिक-व्यवस्था की ही कल्पना की। उसके अनुसार किसी एक काल में अपनाया जाने वाला किसी विशेष छन्द, वर्ण आदि का कारण उस काल-विशेष की सामाजिक आर्थिक व्यवस्था ही होती है।

इस वर्ग के आलोचकों की दृष्टि से समाज-शास्त्र एवं साहित्य दो विभिन्न विषय नहीं रह गये थे। किस सामान्य आधारभूमि पर इन दोनों विषयों की मान्यतायें अन्यान्योश्रित सम्बन्ध स्थापित करती हैं, और किस स्थल पर इनकी मान्यताओं के मध्य गहरी खाई रहती है—इस तथ्य का वे समुचित विश्लेषण नहीं कर सके। काव्य के आर्थिक आधार पर जोर देने की प्रवृत्ति एवं साहित्य की सामाजिक उपयोगिता को स्वीकार करने वाली इनकी दृष्टि, साहित्य के मर्म एवं काव्य की वास्तविक प्रकृति की ओर दृष्टि-निक्षेप न कर सकी। साहित्यिक कृतियों की आलोचना एक साहित्यिक आलोचक की दृष्टि से प्रस्तुत नहीं की गयी अपितु उसे समाज शास्त्र के अध्येता के पद से ही देखने का प्रयास किया गया।

(ख) कथा साहित्य की आलोचना--

इस क्षेत्र के आलोचकों में राल्फफॉक्स, मेक्सिम गोर्की एवं हावर्ड फास्ट का नाम विशेष रूप से उद्धृत किया जा सकता है। काव्य के क्षेत्र में जिस आर्थिक व्याख्या का प्रश्रय लेकर कविताओं के मूल स्रोत तक अबतक पहुँचने का प्रयास हुआ था, प्लेखानोव, काडवेल प्रभृत्ति आलोचकों ने जिस प्रकार साहित्य को समाज की आर्थिक-व्यवस्था की प्रतिच्छाया के रूप में समझने का प्रयास किया था, वह पद्धति गल्प-साहित्य की आलोचना के क्षेत्र में नहीं अपनायी गयी। सामाजिक-यथार्थ का आग्रह इस वर्ग के आलोचकों ने भी किया, इनके द्वारा भी ऐतिहासिक दृष्टिकोण अपनाया गया, पर जिस यांत्रिक एकांकी यथार्थवाद एवं संकुचित ऐतिहासिक दृष्टिकोण को प्लेखानोव एवं काडवेल आदि आलोचकों ने सिद्धान्त रूप में स्वीकार किया था, उससे इनके द्वारा व्यवहृत पद्धति भिन्न है।

हावर्ड फास्ट ने सामाजिक एवं साहित्यिक यथार्थ में अन्तर देखा, यथ व्याख्या करते समय उसने यह स्पष्ट करने की चेष्टा की कि वस्तुगत यथार्थ (Objective reality) एवं कलात्मक यथार्थ (Literary reality) एक नहीं, दो वस्तुएं हैं।[२९] यह आवश्यक नहीं कि जो तथ्य वस्तुगत यथार्थ की कसौटी पर खरा न उतरे, वह कलात्मक यथार्थ हो ही नहीं सकता।

अगर यह नियम बना दिया जाय कि दोनों यथार्थ - कलात्मक एवं वस्तुगत—दो नहीं, सदा एक ही होते हैं, तब वैज्ञानिक युग के पूर्व की रचनायें साहित्यिक कृति के रूप में स्वीकृति हो ही नहीं सकतीं। कारण, उनमें वस्तुगत यथार्थ का अभाव होने के फलस्वरूप कलात्मक यथार्थ की भी अभिव्यंजना दृष्टव्य नहीं होगी। सम्प्रति-ज्ञान के प्रकाश में प्राचीन काल की कितनी ही मान्यतायें आज उपहासास्पद प्रतीत होती हैं। विज्ञान के नित बढ़ते हुए चरण ने अबतक सत्य समझे जाने वाले कितने ही तथ्यों का खण्डन कर उनको नये सिरे से देखने की दृष्टि दी है। कितनी ही प्राचीन धारणायें वस्तुगत यथार्थ की विरोधी ठहरती हैं। लेकिन उन्हीं प्राचीन धारणाओं को अपने में समाहित कर अनेक साहित्यिक कृतियाँ आज भी कलात्मक सौन्दर्य के क्षेत्र में अद्वितीय समझी जाती हैं। अतः कलात्मक एवं वस्तुगत यथार्थ एक नहीं, दो भिन्न तथ्यों का बोध कराते हैं।

अपने को भौतिकवादी या मार्क्सवादी घोषित करने वाले उन्नीसवीं सदी के अधिकांश आलोचकों की यह मान्यता रही है कि साहित्य अपने युग की आर्थिक-व्यवस्था को यथारूप प्रतिबिम्बित करता है। प्लेखानोव एवं काडवेल के सिद्धान्तों से हम परिचित हो चुके हैं। पर इस धारणा का विरोध इस युग के आलोचक राल्फ फॉक्स ने किया। उसके अनुसार यह कहना कि मार्क्स, कलात्मक कृतियों में भौतिक या आर्थिक व्यवस्था का सीधा प्रतिबिम्बि ढूंढ़ता था, असत्य है। ऐसा उसने कभी नहीं किया।[३०]

यह सत्य है कि आर्थिक व्यवस्था ही वह मूलाधार है जिसमें परिवर्तन होने के फलस्वरूप समाज के ऊपरी ढाँचे (Super-structure)—न्याय, राजनीति, धर्म, सौन्दर्य, दर्शन—में भी परिवर्तन हो जाता है। लेकिन आर्थिक ढाँचे का सीधा प्रभाव ऊपरी ढाँचे पर पड़ा है, यह कहना ग़लत है। साथ ही ऊपरी ढाँचे के प्रत्येक क्षेत्र के परिवर्तन में एकरूपता नहीं ढूंढ़ी जा सकती। आर्थिक या सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन होने पर "कानून" (Law) सबसे अधिक प्रभावित होता है। पर कला के क्षेत्र में ऐसा नहीं होता। इस परिवर्तन का न्यूनतम प्रभाव कला पर पड़ता है।[३१]

इस वर्ग के आलोचकों में राल्फ-फॉक्स का विचार सबसे अधिक साहित्यिक एवं तर्क-सम्मत है। वह मार्क्स-एंगेल्स के विचारों के अधिक निकट है। इसीलिए गोर्की के साहित्य को वह दो भागों में विभाजित करके देखने के पक्ष में है। गोर्की का पहला रूप सन् १९१७ के युद्ध के समय समाप्त हो जाता है। गोर्की का यह रूप साहित्यकार का रूप है। इसके बाद की रचनायें प्रोपेगेण्डा-साहित्य के अन्तर्गत समझी जा सकती हैं

क्योंकि उस समय गोर्की अपने साहित्यिक व्यक्तित्व की उपेक्षा कर अपने ऊपर राजनैतिक आवरण चढ़ाने को उद्यत हो जाता है। १९१७ के बाद की उसकी कृतियों में साहित्यकारों को एकसूत्रता में बाँधने का प्रयत्न है। साहित्यकारों को संघटित कर वह एक साहित्यिक एवं सांस्कृतिक मोर्चा बनाने के प्रयत्न का परिणाम है जिसके द्वारा साहित्य नहीं, क्रांति की लपटों को प्रज्वलित करने का प्रयास होता रहा है। गोर्की के जीवन का यह भाग साहित्यिक-रचनाओं के निर्माण का काल न था।[३२]

साहित्य-निर्माण की प्रक्रिया में प्लेखानोव ने साहित्यकार के व्यक्तित्व को कुछ भी महत्व नहीं दिया था। उसके अनुसार लेखक को वही लिखना पड़ता है जो परिस्थितियाँ उसे लिखने को वाध्य करती हैं। काडवेल मनुष्य की अंत:प्रवृत्ति का सीधा सम्बन्ध युग की आर्थिक-व्यवस्था से जोड़ने के पक्ष में था। पर गोर्की, फास्ट एवं राल्फ-फाक्स तीनों ने साहित्यकार के व्यक्तित्व को एक दूसरे ही दृष्टिकोण से देखा। उनके अनुसार साहित्य के निर्माण में व्यक्तित्व का अपना स्थान होता है।

१९ वीं सदी की पूँजीवादी व्यवस्था में व्यक्तित्व किस प्रकार कुचल दिया जाता है, यह उस युग में घटित आत्महत्या की संख्या से स्पष्ट हो जाता है। सामाजिक व्यवस्था से अपने जीवन का तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाने के कारण व्यक्ति का जीवन निराशा और दुख के सागर में गोते लगाने लगता है। और एक समय अपने जीवन की इन विषमताओं से क्षुब्ध होकर वह अपने जीवन का स्वयमेव अन्त कर लेने पर विवश हो जाता है।

इसके विपरीत मार्क्सवाद व्यक्ति को समाज का एक अंग समझता है। यह समझ लेना कि मार्क्सवाद में समाज ही सब कुछ है और व्यक्ति का कुछ भी मूल्य नहीं होता, गलत है। गोर्की के अनुसार यह कहा जा सकता है कि जब व्यक्ति, मजदूर एवं कृषक वर्ग की मान्यताओं की ओर आकृष्ट होकर मुड़ता है, उस समय उसका लक्ष्य मज़दूर वर्ग की भलाई करना ही केवल नहीं होता। वह तो यह भी आशा करता है कि मज़दूर वर्ग बुर्जुआ व्यवस्था का नाश कर उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए उचित व्यवस्था करेगा।[३३]

मार्क्सवाद का सम्बन्ध सामाजिक व्यवस्था से हो सकता है पर उसका चरम लक्ष्य व्यवस्था नहीं, उस व्यवस्था में रहने वाला मनुष्य होता है। सामाजिक व्यवस्था का प्रश्न आवश्यक नहीं। उसके लिए सामाजिक व्यवस्था की पृष्ठभूमि पर नाटक रचने वाला मनुष्य एवं उसकी मनुष्यता का प्रश्न ही सर्वोपरि होता है।[३४]

मीना की पुस्तक 'ओल्ड ऐन्ड न्यू' (Old and New) की सम्यक आलोचना करते हुए एंगेल्स ने यह लिखा है कि प्रत्येक व्यक्ति 'टाइप' है और साथ ही वह अपना अलग एक 'व्यक्तित्व' भी रखता है।[३५] राल्फ-फॉक्स भी व्यक्ति के इन दो पक्षों को स्वीकार करता है। व्यक्ति समाज के नियमों से परे नहीं होता। सामाजिक विकास की क्रिया-प्रतिक्रिया से वह तटस्थ नहीं रह सकता अतः समाज की एक विकसित विकास-धारा का वह एक अंग है। पर साथ ही प्रत्येक व्यक्ति के चारों ओर का फैला हुआ वातावरण एक समान नहीं होता। प्रत्येक मनुष्य की परिस्थितियाँ भिन्न होती हैं जिससे उसके व्यक्तित्व (Individuality) का रूप निर्धारित होता है।

मनुष्य के इन दो विभिन्न पक्षों की ओर राल्फ-फॉक्स आलोचकों का ध्यान आकर्षित करना चाहता है। सामाजिक विकास के धारा प्रवाह से प्रभावित उसका 'टाइप' रूप तथा व्यक्ति की अपनी परिस्थितियों के परिणाम स्वरूप प्रस्फुटित उसके स्वयं का "व्यक्तित्व", दोनों पक्ष का ज्ञान होना साहित्यकार के लिए अभीप्सित है। 'टाइप' (Type) के रूप में मनुष्य समाज के एक निश्चित वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है और 'व्यक्ति' (Individual) के रूप में वह अपनी निजी विशेषताओं का विकास।

गोर्की के विचार कुछ भिन्न हैं। उसके अनुसार

साहित्य, राजनैतिक विचारों के प्रचार का साधन भी है। यही कारण है कि वह पार्टी के नेतृत्व में ही साहित्य की रचना करने के पक्ष में है। वह साहित्य को व्यवस्था के रूप में ही अपनाने का समर्थक था। व्यवसाय के रूप में ग्रहण करने वालों का उसके अनुसार एक अलग संघ होना चाहिए। इस संघ का कार्य न केवल साहित्यकारों के हित की रक्षा करना होगा, अपितु उसे साहित्य के नियमन पर भी अंकुश रखने का अधिकार होगा।

साहित्य और राजनीति के जिस सम्बन्ध पर गोर्की बल देते हुए यह कहता है कि साहित्य, राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति का साधन मात्र है, उसको एक सीमा तक हावर्ड फास्ट भी स्वीकार करता है। लेकिन गोर्की एवं फास्ट की मान्यता में अन्तर है। फास्ट राजनीति को साहित्य के समानान्तर लाना चाहता था और गोर्की साहित्य के ऊपर। फास्ट ने लिखा है कि कला स्वयं में पूर्ण नहीं होती। उसका मुख्य धर्म सामाजिक-यथार्थ की सुरुचिपूर्ण अभिव्यक्ति करना है। यथार्थ के क्षेत्र में राजनीति को स्वीकार करने के उपरान्त उसे साहित्य के क्षेत्र में अस्वीकार कर देना महान मूर्खता के अतिरिक्त और कुछ नहीं। लेकिन ध्यान में रखना चाहिए कि गोर्की के प्रोपेगेण्डा साहित्य का फास्ट भी समर्थक था।

[क्रमशः]

पाद टिप्पणियाँ

(1) Ishian Berlin—"From the Third Programme" p. 170.

(2) Belinsky letter to N.V. Gogol —July 3, 1847.

(3) V. G. Belinsky — "Selected Philosophical Works" p. XLIV.

(4) Chernyshevsky — Extracted from "Art and Social Life" p. 179.

(5) V. G. Belinsky — "Selected Philosophical Works" p. XXXVIII.

(6) Ibid—p. XXXIII.

(7) Karl Marx & F. Engles— "Literature and Art" p. 11.

(8) "The spirit is divine thought, the source of life; matter is the form without which thought could not manifest itself. Obviously both these elements need each other;......."

V. G. Belinsky—"Selected Philosophical Works" p. 196.

(9) ibid p. 188.

(10) ibid p. 97.

(11) Chernyshevsky— "Selected Philosophical Works."

(12) "Art is immediate contemplation of truth or thinking in images."—V. G. Belinsky— "Selected Philosophical Works" p. 180.

(13) "It (imagery) is the morphological type of real life......"

Lifshitz—"The Modern Quarterly" (Miscellaney No. 1).

(14) V. G. Belinsky — "Selected Philosophical Works" p. 193.

(15) ibid.

(16) G. V. Plekhanov—"Art and Social Life" p. 61.

(17) Caudwell—"Illusion and Reality" p. 14.

(शेष पृष्ठ ४४ पर)

मेरे गुरु श्री द्वारिकेश जी, शतशः प्रणाम !

पं० किशोरीदास वाजपेयी

सन् १९५८ के इस अगस्त मास ने मुझे बड़ा लाभ पहुँचाया है। 'समालोचक' के द्वारा मुझे गुरुदेव के दर्शन हुए। श्री द्वारिकेश जी हिन्दी व्याकरण के परमाचार्य हैं; यह उनके एक लेख से मालूम हुआ। अब तक मैं गहरे अन्धकार में था—

अज्ञानतिमिरान्धस्य, ज्ञानाञ्जन-शलाकया,
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्रीगुरवे नमः।

सन् १९५४ में महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने मेरी कुछ पुस्तकें वी० पी० से मंगाकर पढ़ीं, जिन में 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण', 'हिन्दी–निरुक्त' तथा 'साहित्यिक जीवन के संस्मरण' ये तीनों पुस्तकें भी थीं। संस्मरण-पुस्तक में मैंने लिख दिया था कि अब व्याकरण तथा निरुक्त पर आगे कुछ भी न लिखूंगा, जब तक 'सभा' जैसी कोई संस्था लिखवाए नहीं।

राहुल जी ने वे सब पुस्तकें पढ़ कर कलकत्ते के 'नया समाज' में एक लेख छपवा दिया, जिसमें लिखा—"जिन दो विषयों में वाजपेयी जी के समकक्ष इस समय हिन्दी में कोई नहीं है, वे हैं—हिन्दी व्याकरण और निरुक्त।" यह लेख डा० अमरनाथ झा महोदय ने भी देखा और उन्होंने नागरीप्रचारिणी सभा, काशी को लिखा कि वाजपेयी जी से व्याकरण लिखवाना चाहिए। झा महोदय 'सभा' के उन दिनों अध्यक्ष थे। 'सभा' ने हिन्दी-व्याकरण लिखवाने के लिए मुझे आमंत्रित किया और २०%रायल्टी अपनी ही ओर से तै कर के छत्तीस सौ रुपए मुझे पेशगी दिए, जो आगे रायल्टी में कट जाएंगे। 'सभा' ने मेरी अनेक उलटी-टेढ़ी शर्तें भी स्वीकार कीं और अपने नियम भी कई उसे दबाने-हटाने पड़े। यानी मेरे सौ नाज-नखरे 'सभा' ने बर्दाश्त किए, तब मैंने व्याकरण लिखकर उसे दिया। छपते समय भी 'सभा' को मेरी जिद माननी पड़ी और सब कुछ मेरी इच्छानुसार हुआ। अब यह व्याकरण 'हिन्दी शब्दानुशासन' नाम से बड़े आकार में छपकर प्रकाशित हो चुका है।

इसी 'हिन्दी शब्दानुशासन' के कुछ प्रतिपाद्य अंश मैं 'समालोचक' आदि को भेंट करता रहा हूं—पुस्तक छपने से पहले ही। काशी के विद्वानों को बुलाकर उनके सामने भी कभी-कभी कुछ कहता रहा हूँ। यह इसी लिए कि विचार-विमर्श होता चले, चीज मंजती चले। पुस्तक छपते समय तक भी यदि श्री द्वारिकेश जी का ज्ञान मुझे मिल जाता, तो वहीं छपना बन्द करके पुस्तक में आग लगवा देता! जिसे मैंने बहुत-कुछ समझ रखा था, वह तो निरा कूड़ा-कर्कट निकला!

श्री द्वारिकेश जी ने 'के' आदि के बारे में जो कुछ लिखा है, वही सब मित्रवर डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी कहा था; परन्तु उन की बात की मैंने परवा न की और कह दिया था कि आगे आप की समझ में सब आ जाएगा। परन्तु अब श्री द्वारिकेश जी ने चक्षु खोल दिए हैं। 'घर में' अध्याहार करके सब काम ठीक हो जाता है। यानी—

१–केकयी के एक लड़का हुआ, भरत नाम का
२–कौसल्या के एक लड़की भी हुई थी

यहाँ 'के' की संगति के लिए 'घर में' अध्याहार कर लेना चाहिए। अर्थात्

१–केकयी के घर में एक लड़का हुआ, भरत
२–कौसल्या के घर में एक लड़की भी हुई थी

यों मतलब है, उन संक्षिप्त वाक्यों का! धन्य भाग, गुरुदेव मिले।

डा० हजारीप्रसाद जी ने 'हिन्दी शब्दानुशासन' पर जो राय प्रकट की है, उस के कुछ वाक्य ये हैं:—

"वाजपेयी जी संस्कृत-व्याकरण के सुपण्डित हैं;

पर संस्कृत के अधिकांश विद्वानों की भाँति हिन्दी को संस्कृत की पूर्ण अनुयायिनी मानने का आग्रह उनमें नहीं है। वे हिन्दी की प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षक हैं।"

परन्तु श्री द्वारिकेश जी ने समझा कि यह जन पाणिनि के पीछे हिन्दी को घसीटने वाला है!

डा० द्विवेदी जी ने आगे लिखा है—'वाजपेयी जी ने निष्कर्षों तक पहुँचने की पूरी प्रक्रिया बता दी है और विचारशील पाठक को स्वयं सोचने-समझने को स्वतंत्र छोड़ दिया है। इस पुस्तक की बड़ी भारी विशेषता है। इस पुस्तक के कई प्रसंगों में उन्होंने बड़े धैर्य के साथ मुझे अपनी बात समझाई है, झुंझलाए बिलकुल नहीं। परन्तु सब समय उनकी बात में ठीक से समझ नहीं सका। जब भी कुछ समझ कर मैंने उनकी बात मान ली, तभी उन का चेहरा आनन्द से खिल उठा। मेरा यह दुर्भाग्य रहा कि कई अवसरों पर मैं उनको आनन्दोद्दीप्त नहीं देख पाया। मगर वाजपेयी जी हार माननेवाले नहीं हैं। उन्हें पूरा विश्वास है कि किसी शुभ मुहूर्त में मेरा रहा-सहा भ्रम भी दूर हो जाएगा।

वाजपेयी जी का यह ग्रन्थ हिन्दी-व्याकरण को **एक नए परिपार्श्व** में देखने का आलोक देता है। यह इसकी बड़ी भारी विशेषता है। शास्त्रीय विचार-पद्धति में निष्कर्ष की अपेक्षा निष्कर्ष तक पहुँचने की प्रक्रिया महत्त्वपूर्ण है। वाजपेयी जी का यह प्रयत्न निश्चित रूप से सहृदय विद्वानों को सोचने को बाध्य करेगा।

मेरा विश्वास है कि इस पुस्तक से हिन्दी-व्याकरण को एक नई दिशा मिलेगी। **अभी तक जो व्याकरण लिखे गये हैं. वे प्रयोग-निर्देश तक ही सीमित हैं।** इस पुस्तक में पहली बार व्याकरण के तत्त्व-दर्शन का स्वरूप स्पष्ट हुआ है।"

--'हिन्दी शब्दानुशासन' की 'भूमिका' से।

यानी डा० द्विवेदी मेरे विचारों को व्याकरण का 'तत्त्वदर्शन' कहते हैं, 'नया प्रकाश' कहते हैं; परन्तु श्री द्वारिकेश जी मेरे प्रयत्न को पिष्ट-पेषण समझते हैं। और कहते हैं कि शताब्दियों पहले पाश्चात्य विद्वान् जो तत्त्व दे गए हैं, मैं उन्हें ही रगड़ता हूँ और भ्रष्ट करता हूं। परन्तु मैं तो अंग्रेजी पढ़ा नहीं हूँ। मुझे पता नहीं कि उन पाश्चात्यों ने वह सब कह दिया है! अब समझा! आगे 'हिन्दी शब्दानुशासन' न छपेगा और श्री द्वारकेश जी चाहें तो 'सभा' को वह सब खर्च देकर 'हिन्दी शब्दानुशासन' की दो हजार से कुछ अधिक प्रतियाँ जो छपी हैं, उन सब में आग भी लगवा सकते हैं। हिन्दी-जगत् में भ्रम न फैले, इस के लिए वह नई बात नहीं है।

मैं कभी भी किसी दूसरे की गवाही देकर अपनी बात नहीं कहता। परन्तु श्री द्वारिकेश जी ने कितने ही विद्वानों को सामने ला खड़ा किया है, इसी लिए मैंने भी राहुल, झा तथा द्विवेदी जी का उल्लेख कर दिया और द्विवेदी जी के वाक्य इस लिए उद्धृत किए कि कैसे-कैसे बड़े लोग भी किस तरह किसी के झाँसे में आ जाते हैं; यह देख लिया जाए!

खैर, अन्त में श्री द्वारिकेश जी को फिर विनयपूर्वक प्रणाम करता हूँ।

(पृष्ठ ४१ का शेषांश)

(18) George Thomson— "Marxim and Poetry".

(19) G. V. Plekhanov— "Art and Social Life" p. 86.

(20) Caudwell—"Illusion anb Reality" p. 24.

(21) ibid p. 25.

(22) George Thomson—"Marxism and Poetry" p. 8.

(23) Engles letter to I Bloch.—Sept. 21-22, 1890.

(24) Engles letter to Starkenbirg Jan. 25, 1894.

(25) "Marx and I are partly to blame for the fact that the younger people sometimes lay more stress on matter than is due to it."

Engles letter to I. Bloch Sept. 21-22, 1890.

(27) Caudwell—'-Studies in Dying Culture" p. 46.

(28) "I am soviet factory manufacturing happiness"—Mayokovasky.

(29) Howard Fast — "Literature and Reality" p. 14.

(30) Ralph Fox—"The Novel And The People" p. 72.

(31) ibid p. 71.

(32) ibid p. 53.

(33) Maxim Gorky— 'Creative Labour & Culture" p. 32.

(34) Ralph Fox—"The Novel and the People".

(35) Engles letter to Minna Kantsky—Nov. 26, 1885.

भाषा के दो रूप

डॉ० ब्रजवासीलाल श्रीवास्तव

प्रत्येक भाषा के दो रूप होते हैं एक उच्चरित तथा दूसरा लिखित। भाषा के उच्चरित रूप के प्रति शिक्षित समुदाय की सहानुभूति नहीं होती प्रत्युत उस रूप को ग्राम्य कह कर उसका विरोध भी किया जाता है—लिखित रूप के लिए उसको वर्जित समझा जाता है। इस प्रसंग में बड़ी हास्यास्पद बात यह है कि जब यह समुदाय स्वयं बोलता है तो इसकी मौखिक अभिव्यक्ति में बोलीगत रूप की ही अधिकता रहती है। इस प्रकार जिस बोलीगत रूप का वह विरोध करते हैं तथा व्याकरण की दृष्टि से अवैध घोषित करते हैं, उन्हीं की मौखिक अभिव्यक्ति से उसको अप्रत्यक्ष रूप में मान्यता प्राप्त हो जाती है। तब उसको अवैध कैसे कह सद हैं? वास्तविकता यह है क जिस प्रकार हम पुस्तक पढ़ते हैं उस प्रकार न तो हम बोलते हैं और न प्रतिदिन के कार्यों में बोल ही सकते हैं। इसलिए चाहे हम ग्राम्य-प्रयोगों का विरोध करें बोलते समय हम उनसे बच नहीं सकते।

साधारणतया भाषा का उच्चरित रूप लिखित रूप से असम्बद्ध दिखलाई देता है और ऐसा प्रतीत होता है कि दो पृथक् स्रोतों से इन दोनों रूपों की उत्पति हुई है किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। लिखित रूप उच्चरित रूप का ही लिपिबद्ध स्वरूप है जो लिखित रूप की सीमाओं में पूर्ण तथा अखण्ड अंकित नहीं हो पाता। इसलिए लिखित रूप को उच्चरित रूप की छाया, खण्ड तथा अपूर्ण अभिव्यक्ति कहा जाता है तथा सीमित अंशों में ही वह स्वतंत्र हो सकता है। भाषा की मूल अभिव्यक्ति को लिखित रूप में समझने के लिए या तो बोलीगत तथा लिखित दोनों रूपों के तुलनात्मक अध्ययन का आश्रय लिया जा सकता है अथवा बोलीगत रूप की पृष्ठभूमि में अनुमान से ही काम चलाया जा सकता है। होता प्रायः ऐसा ही है कि भाषा के लिखित रूप को समझने के लिए उच्चरित रूप की पृष्ठभूमि का अनुमान ही लगा लेते हैं। अनुमान दार्शनिक प्रक्रिया में अपना महत्व रखता है तथा अनुपादेय नहीं कहा जा सकता किन्तु उससे स्वरूप की यथावत् उपलब्धि तो संभव नहीं हो सकती। यह भी ठीक है कि तुलनात्मक अध्ययन श्रम-साध्य तथा प्रत्येक क्षण संभव नहीं हो सकता। इसलिए अनुमान के सरल मार्ग का अपनाया जाना स्वाभाविक होता है। इन परिस्थितियों में भाषा के उच्चरित रूप की अभिव्यक्ति यथावत् नहीं हो पाती। इसीलिए मूल उच्चरित रूप स्थान में एक कृत्रिम भाषा का सृजन होता है। संस्कृत भाषा का संस्कृत नाम इसी तथ्य का उद्घाटन करता है।

लिखित रूप की कृत्रिमता का स्पष्ट रूप उसके मिश्र तथा संश्लिष्ट वाक्यों में देखा जा सकता है। उच्चरित रूप में वक्ता की अभिव्यक्ति साधारण तथा छोटे-छोटे वाक्यों में ही होती है। संश्लिष्ट अथवा मिश्र वाक्यों में बोलने की न तो वक्ता को आवश्यकता ही होती है न वह उच्चरित रूप की परिस्थितियों में जिनमें भावों की प्रबलता, संप्रेषणीयता की संक्षिप्ति तथा प्रयत्नलाघव की प्रमुखता रहती है, बोल ही सकता है। भाषण अथवा अभ्यास की बात दूसरी है।

शिक्षित व्यक्ति भाषा के उच्चरित तथा लिखित दोनों रूपों के सम्पर्क में आता है। वह शब्दों को कान से सुनता है और आँखों से देखता भी है। अपनी मातृभाषा होने के कारण उसको दोनों रूपों की असमानता का भान भी नहीं होता अथवा यह कहना चाहिए कि वह दोनों रूपों में सामंजस्य स्थापित कर लेता है तथा उसको किसी प्रकार की कोई कठिनाई नहीं होती। अन्य भाषा-भाषी व्यक्तियों के लिए यह एक समस्या बन जाती

है। वह सुनता कुछ है और पढ़ता या देखता कुछ और है। अतएव दोनों रूपों में सामंजस्य स्थापित कर लेना उसके लिए कठिन ही होता है। हिन्दी के संदर्भ में यहाँ इस तथ्य पर विचार किया जा सकता है।

हिन्दी यथावत् उच्चारण के लिए अग्रणी है किन्तु इसमें भी बोलीगत तथा लिखित रूपों की समानता का अभाव है। हिन्दी में हम बोलते हैं—उस्का, रक्खा, उस्ने, बोल्ता है, जान्ता हूँ, जारिया है आदि किन्तु लिखते हैं उसका, रखा, उसने, बोलता है, जानता हूँ, जा रहा हूँ आदि। यही क्यों प्रयत्नलाघव के अन्तर्गत उच्चरित शब्दों के उच्चारण में विभिन्न प्रकार के रूप प्रकट होते हैं, जैसे—

नहाना को हनाना, तकुआ को कतुआ, बाबा का बा, दादा का दा। मार डाला का माड्डुला, स्टेशन का टेशन, इसटेसन, सटेसन आदि। फिर–पुनि का फुनि, मतलब का मतबल। किसमत का किसमिस, लाइब्रेरी का रायबरेली, आदि आदि।

उच्चरित रूप की उपर्युक्त विभिन्नता की व्याख्या ध्वनि विज्ञान के द्वारा की जा सकती है तथा विभिन्नता का कारण बताते हुए जिज्ञासा का समाधान किया जा सकता है किन्तु इससे रूपवैषम्य की समस्या का हल तो नहीं होता। इस विषमता का सूक्ष्म अध्ययन करने पर पता लगेगा कि उच्चरित विभिन्न रूपों में भी एकरूपता नहीं होती—एक शब्द की ध्वन्यात्मक एकरूपता का अभाव है। एक व्यक्ति जिस प्रकार एक शब्द का उच्चारण करता है, ठीक उसी प्रकार दूसरा व्यक्ति उच्चारण नहीं कर पाता। यही क्यों, एक ही व्यक्ति एक शब्द का उसी रूप में पुनः उच्चारण नहीं कर पाता। दोनों उच्चारणों में ध्वन्यात्मक अन्तर आ जाता है जो स्थूल रूप में प्रतीत न होते हुए भी वैज्ञानिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होता है तथा यन्त्र की सहायता से देखा भी जा सकता है। उच्चरित रूप के इस सूक्ष्म अन्तर का प्रकटीकरण लिखित भाषा में संभव नहीं होता। यह अवश्य है कि प्रत्येक लेखक की अपनी शैली भी पृथक् होती है। विशेष रूप से अवलोकनीय तथ्य यह है कि उच्चरित रूप की ध्वन्यात्मक विविधता तथा लिखित रूप की शैलीगत विभिन्नता अर्थ-बोध में किसी प्रकार भी बाधक नहीं होती प्रत्युत यह विविधता ही भाषा के इन रूपों को सजीव बनाए रहती है तथा श्रोता तथा पाठक के रंजन का साधन सिद्ध होती है। कल्पना कीजिए यदि उच्चरित रूप में ध्वनिगत तथा लिखित रूप में शैलीगत विशेषता न होती तो भाषा की रूढ़िवादिता कितनी अरुचिकर सिद्ध होती। उच्चरित रूप की मूल विशेषता उसकी विशेष अर्थ-व्यंजना में है जो रागात्मक तत्त्व—सुर, बल, मात्रा, लय आदि के संयोग से विभिन्न रूपों में प्रकट होती है जिनको लिखित भाषा में अंकित करना कठिन होता है। उदाहरणस्वरूप यहाँ एक साधारण वाक्य ले सकते हैं—"तुम पाठशाला से आगए" उच्चरित रूप में इस वाक्य में निम्नलिखित विशेष अर्थ-व्यंजनाएं होती हैं—

(१) तुम पाठशाला से आ गए (क्या तुम आ गए ?)

(२) तुम पाठशाला से आ गए (हैं, तुम आ गए ! क्या पाठशाला की छुट्टी हो गई)

(३) तुम पाठशाला से आ गए (तुम आगए और रमेश नहीं आया ?)

(४) तुम पाठशाला से आ गए (आशा तो न थी कि समय से पूर्व आ जाओगे)

(५) तुम पाठशाला से आ गए (बस, तुम तो कहते थे कि जाऊंगा ही नहीं)

(६) तुम पाठशाला से आ गए (मैं कहता न था कि तुम रुकोगे नहीं) आदि आदि।

लिखित रूप में दो संकेतों का प्रयोग होता है–(?) (!) प्रश्नात्मक तथा विस्मयात्मक। शेष रागों का ज्ञान कराने के लिए लिखित भाषा में संकेत नहीं हैं। उपर्युक्त दोनों संकेत भी अपूर्ण ही कहे जायंगे क्योंकि इनसे यह तो ज्ञात होता है कि वाक्य प्रश्नात्मक है अथवा विस्मयात्मक किन्तु इससे आगे यह पता नहीं लगता कि यदि प्रश्नात्मक है तो किस शब्द से प्रश्न का बोध हो रहा है—वाक्य के किस पद पर विशेष बल है। इस

कमी के कारण भी अर्थ-व्यंजना की अनेकरूपता तक पहुँचना सम्भव नहीं हो पाता। इसी प्रकार दूसरा संकेत भी अपूर्ण है।

लिखित रूप तो दूर स्वयं उच्चरित रूप में रागात्मक तत्त्वों के यथावत् ग्रहण न किए जाने से संभ्रम उत्पन्न हो जाता है। वक्ता का आशय कुछ होता है और श्रोता समझ कुछ लेता है और इस प्रकार आपस में उत्पन्न संभ्रम वाद-विवाद अथवा झगड़े का भी कारण बन जाता है। इस प्रसंग में एक मनोरंजक घटना मुझे स्मरण है। एक बार मैं अपने छोटे भाई के यहाँ गया जो एक बड़े अधिकारी हैं। वह घर पर न थे। उनके नौकर ने कहा कि आप बहू जी से मिल लीजिए। मैंने सहज भाव से कहा—"भाई, हम बड़े हैं, क्या मिलेंगे ?" नौकर ने रागात्मक तत्त्वों को यथावत् ग्रहण करने में भूल की और उसने आकर मेरे कथन को इस रूप में दुहराया—"यह कह कर चले गए हैं कि अरे भाई बड़े (आदमी) हैं हम से क्या मिलेंगे।"

लिखित रूप में भी अस्पष्टता तथा संभ्रमात्मक शब्दावली की संभावना होती है किन्तु वहाँ ऐसे अवसर कम आते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि लेखक की दृष्टि मूलत: भाषा की अभिव्यक्ति पर ही रहती है जब कि उच्चरित रूप में भावों की बोधगम्यता वक्ता का मुख्य लक्ष्य होता है। वह भाषा की शुद्धता, वाक्यों की नियमानुकूल पदयोजना आदि की ओर ध्यान नहीं दे पाता। आजकल किसी शिक्षित व्यक्ति का कथन यदि ध्यानपूर्वक सुना जाय तो प्रकट होगा कि वह जो कुछ बोलते हैं वह नाममात्र की ही हिन्दी होती है अन्यथा उसमें अंग्रेज़ी के शब्दों की भरमार होती है और यह कहना चाहिए कि हिन्दी के ढांचे में अंग्रेज़ी बोली जा रही है; किन्तु लिखित भाषा में हम इस प्रकार के कथन से दूर ही रहते हैं। आजकल के अंग्रेज़ी से प्रभावित कथन के इस रूप को जाने दीजिए। अन्य कथनों को, जिनको हिन्दी के कथन कह सकते हैं, देखें तो उनमें भी भाषा की लिखित शैली का अनुपालन नहीं होता। यदि किसी व्यक्ति को अपनी बातचीत के बीच दस नाम गिनाने हैं तो वह उच्चरित रूप में हरएक को स्मरण करते हुए प्रत्येक नाम के बाद "और" लगाता चलेगा किन्तु लिखित रूप में केवल अन्तिम नाम के पश्चात् ही 'और' का प्रयोग किया जायगा। उच्चरित भाषा की कहानी जिन लोगों को सुनने का अवसर मिला होगा वह भलीभांति जानते हैं कि वह कहानी शैली की दृष्टि से कितनी भिन्न होती है। उरिच्चत रूप की कहानी में प्रत्येक वाक्य में पूर्ववर्ती वाक्य का कुछ अंश दुहराया जाता है और कुछ अंश नया जोड़ दिया जाता है और इस प्रकार अभिव्यक्ति का मूलरूप पूर्वापर वाक्यों से सम्बन्धित रहता है। इस प्रकार की प्रवृत्ति लिखित रूप में पुनरावृत्ति का दोष कही जायगी। उच्चरित रूप की कहानी के इस रूप को डा० सक्सेना ने भाषा की मूल-प्रवृत्ति कहा है।[1] एक कहानी का आंशिक उद्धरण इस प्रवृत्ति के रूप को दिखला सकेग

"एक थे राजा, राजा के थीं सात बेटी, सातो बेटी थीं बड़ी सुन्दर.......''

कहानी के सम्बन्ध में उल्लिखित उपर्युक्त प्रवृति से इतर साधारण बातचीत में भी उच्चरित रूपगत पदरचना लिखितरूप से भिन्न होती है। वक्ता शब्दों के साथ अथवा शब्दों से भी कहीं अधिक परिस्थिति, प्रसंग, रागात्मक तत्त्व एवं हावभाव आदि का आश्रय अधिक लेता है। वक्ता-श्रोता की प्रसंग-परिस्थिति उनकी बातचीत की कुंजी होती है जिसके संदर्भ में ही उनकी बातचीत समझी जा सकती है। दो व्यक्तियों की बातचीत के बीच में कोई तीसरा व्यक्ति आजाय तो वह तुरन्त यही पूछता है कि क्या बात है और उसको प्रसंग-परिस्थिति से अवगत कराया जाता है तब कहीं वह उन दोनों व्यक्तियों की बातचीत को समझ सकता है। इन तत्त्वों के सहारे वक्ता बड़े-बड़े वाक्यों के स्थान में वाक्यांश, पदांश अथवा शब्दरहित केवल हावभाव से ही काम चला लेता है जिसका साभिप्राय एवं बोधगम्य रूप लिखित भाषा में पर्याप्त मात्रा में शब्दों एवं वाक्यों के सहारे ही

---

१ सामान्य भाषा विज्ञान : संवत् २०१३ पृ० १६४–१६६।

प्रकट हो पाता है। इस संक्षिप्ति की प्रवृत्ति के अनुकूल वक्ता पद-रचना का क्रम ही बदल देता है। वह उस पद को जिससे वह समझता है कि तात्पर्य-बोध की मुख्यरूप से साधना होती है, सबसे पहले रखता है और शेष पदों को यथासुविधा मोड़कर उसके पीछे लगा देता है और वाक्य पूरा कर देता है अथवा यदि वह समझता है कि पदांश ही अलम् है तो वह वाक्य भी पूरा नहीं करता। एक बालक अपनी बात इस प्रकार कहेगा—"मीठी-मीठी हमें अच्छी लगेगी बहुत'। इस प्रकार लिखितरूप की पद-मर्यादा उच्चरितरूप में विशेष महत्त्व नहीं रखती। हाँ, यह अवश्य है कि उच्चरित रूप का विश्लेषण करने पर विशेष पद-क्रम का पता लग सके तथा उसके लिखितरूप भी ज्ञात हो सकें।

अस्तु, कहा जा सकता है कि भाषा का उच्चरित रूप अपना अलग महत्व रखता है तथा लिखितरूप से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। संसार की विभिन्न बोलीगत भाषाओं में से लगभग एक तिहाई ही अभी तक लिखित-रूप पा सकीं हैं तथा शेष अब भी बोलीगत रूप में ही प्रचलित हैं। बोलीगत भाषाओं के अध्ययन से जहाँ उनकी प्रवृति, उनके विकास तथा उनके रूपनिर्माण पर प्रकाश पड़ता है वहाँ इन तथ्यों के संदर्भ में उनसे सम्बन्धित लिखित भाषाओं के भावी विकास तथा परिवर्तन के सम्बन्ध में भी भविष्यवाणी की जा सकती है। भाषा का बोलीगत रूप स्वच्छन्द प्रवाहित होता है। उसके प्रमुख साधक होते हैं बालक, ग्रामीण और स्त्री। इसीलिए कहा गया है कि "बालक, ग्रामीण और स्त्री इन तीनों की बोली कभी व्याकरण के कानून को डरती ही नहीं और संसार में अधिक व्यवहार इन्हीं की भाषा का है।"[१] उच्चरित रूप के अनुकूल ही लिखित रूप में विकास एवं परिवर्तन होता रहता है। लिखित भाषा के व्याकरण तैयार किए जाते हैं तथा व्याकरण के नियमों में बद्ध करने के प्रयत्न व्याकरण करते हैं किन्तु जब तक व्याकरण तैयार होते तथा समाज की मान्यता प्राप्त कर पाते हैं तब तक भाषा का रूप कई अंशों में परिवर्तित हो जाता है। यही देखकर एक वैयाकरण ने कहा था कि भाषा का सम्पूर्ण व्याकरण बन ही नहीं सकता।[२]

अतएव आज लिखित भाषा के साथ भाषा के उच्चरित रूप के अध्ययन की ओर भी भाषा-सेवी-समाज तथा विद्वानों का ध्यान जाना चाहिए। इस दिशा में यद्यपि विदेशों में जोरों से काम शुरू हो गया है किन्तु अपने देश में अभी तक इस ओर कोई महत्वपूर्ण कदम नहीं उठाया गया है। उच्चरित भाषा के शब्दों के संकलन तथा उनके वैज्ञानिक अध्ययन पर तो कुछ अनुसंधित्सुओं ने काम किया है किन्तु यह प्रयास भी विशेष क्षेत्रों तक ही सीमित हैं। समस्त हिन्दी प्रदेश के लिए कोई योजना अभी तक नहीं बनी है। दूसरी ओर उच्चरित भाषा के वाक्यविन्यास पर तो अभी किसी ने लेखनी उठाई ही नहीं है।

१ व २–हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग, कार्यविवरण दूसरा भाग, संवत् १९६८ हिंदी व्याकरण-लेखक अनन्तराम त्रिपाठी।

इस लेख के प्रस्तुत करने में निम्नलिखित ग्रंथों से सहायता ली गई है। इनके लेखकों के प्रति अति आभार प्रकट किया जाता है–

1. An Introduction to Descriptive Linguistics : H. A. Gleason Jr. : Holt 1956 Page 1-I2.

2. Language and its Growth : Scott. Carr. Wilkinson : N. York 1935, Page I.

3. A Grammar of Spoken English : H. E. Palmer : Heffer & Sons Cambridge I955 Introduction xxxvii, Page I.

4. Difference between Spoken and Written Language : Daniel Jones Association Phonetique Internationale, I948.

5. Leave Your Language Alone: R. A. Hall Jr.: Linguistica--Ithaca, N. Y. 50 Pages 30–35.

6. The Poetic Approach to Language : V. K. Gokak Page II8.

7. सामान्य भाषाविज्ञान: डा०—बाबूराम सक्सेना संवत २०१३ पृ० १६०-१६४।

कुमाऊँनी लोकगीतों में सामाजिक चित्रण

श्री त्रिलोचन पाण्डेय

लोक गीतों से हमारा तात्पर्य लोक साहित्य के उन रूपों से है जो प्रायः अलिखित रहकर जन साधारण द्वारा निर्मित होते हुए एवं परम्परा से देश काल की विविध परिस्थितियों का चित्रण करते हुए उनके बीच प्रचलित हैं और गेय रूप में एक स्थान से दूसरे स्थान तक फैले हुए हैं। 'लोक' शब्द का तात्पर्य उस साधारण जन समाज से है जिसमें भूभाग पर फैले हुए सभी प्रकार के मानव हैं, जो लोग गाँवों, शहरों में निवास करते हैं और व्यावहारिक ज्ञान व दैनिक अनुभव के लिए ज्ञान की पोथियों का सहारा नहीं लेते।

'लोक' शब्द वस्तुतः अंग्रेज़ी 'फोक' शब्द का हिंदी पर्याय मान लिया गया है जब कि भारतीय परिस्थितियों में इसका प्रयोग उस अर्थ में नहीं हो सकता। पाश्चात्य दृष्टि से 'फोक' शब्द मूलतः असंस्कृत, मूढ़ समाज के लिए प्रयुक्त हुआ जो बाद में गाँवों में रहने वाले अनपढ़, मूर्ख लोगों के अर्थ में व्यवहृत होने लगा। वहाँ के विद्वानों में प्रो० चाइल्ड, किटरिज आदि ने इसे मनुष्य की आदिम अवस्था की अभिव्यक्ति समझा और असंस्कृत समाज का विषय माना। किन्तु हमारे मत में 'लोक' शब्द इस 'फोक' के संकुचित अर्थ में प्रयुक्त नहीं होना चाहिए, कम से कम भारतीय लोक साहित्य का अध्ययन करते हुए तो बिल्कुल नहीं क्योंकि नगर तथा गाँवों में यहाँ उस प्रकार का अंतर नहीं रहा जैसा यूरोप में था और है। भारत तो ग्राम प्रधान देश है, यहाँ नागर जीवन के साथ-साथ ग्राम जीवन का भी महत्व रहा है। अतः 'लोक' शब्द की व्याख्या व्यापक ही माननी चाहिए।

लोक गीतों में व्यक्ति विशेष तथा जन सामान्य दोनों की रचनाएं सम्मिलित की जा सकती हैं। शिष्ट वर्ग के साहित्यिक गीतों से इन्हें पृथक करने वाला मुख्य तत्त्व यह है कि समाज की यथार्थ स्थिति से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखते हुए इनकी रचना होती है, इनकी अभिव्यक्ति सामूहिक होती है। यदि व्यक्ति विशेष रचना करता भी है तो उस पर छाप समाज की लग जाती है। इसी अर्थ में कहा जाता है कि लोक गीत समाज की सम्पत्ति हैं। 'कामायनी' व्यक्ति विशेष की रचना है अतः लोक रचना की सीमा से बाहर है किन्तु 'ढोला मारूरा दूहा' सामाजिक अर्थात् लोक रचना है। संभव है अनेक व्यक्तियों ने एकाधिक वार उसके कलेवर में परिवर्तन किया हो, किंतु उसे जन समाज की रचना माना जाता है।

व्यक्ति की रचनाएं शिष्ट वर्ग के अतिरिक्त जन-साधारण की भी हो सकती हैं तब वे लोक रचनाओं में आ जाती हैं और कभी लोक रचना शिष्ट वर्ग के साहित्य में भी स्थान पा जाती है। उदाहरण के लिए जायसी का महाकाव्य 'पद्मावत' जब ठेठ अवधी में लिखा गया तो उसकी मुख्य कथा लोक कथा ही थी। हीरामन सुए व पद्मिनी रानी की गाथा जोगी लोग सारंगी बजा कर घर घर गाया करते थे किंतु अब वह साहित्यिक शिष्ट वर्ग की रचना है। कुमाऊंनी लोककाव्य 'मालूशाही' भी कल व्यवस्थित व संपादित होकर अनेक उपलब्ध कथा भेदों के साथ साहित्य की स्थायी निधि बन सकता है।

कुमाऊंनी लोक गीत उपर्युक्त तथ्यों के अपवाद नहीं हैं।

कुमाऊं या मूल शब्द 'कूर्माचल' से इस समय उत्तर प्रदेश के तीन पर्वतीय जिलों नैनीताल, अल्मोड़ा और गढ़वाल का बोध होता है। भले ही कुछ लोग जातीय तथा सांस्कृतिक दृष्टि से गढ़वाल को पृथक् इकाई मानने के पक्ष में हैं। उसका नाम भी प्राचीन काल में "उत्तराखण्ड" था।

कुमाऊं के लोक गीत यहाँ के जन जीवन, विचार,

आदर्शों व अनुभूतियों का यथार्थ चित्रण करते हैं। हिमालय की उपत्यकाओं में फैले हुए इस भूमि भाग की प्राचीन काल से लेकर आज तक की प्रायः सभी विशेषताएं यहाँ के लोक गीतों में दर्पण की भाँति झलक उठी हैं। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि समाज संबद्ध लोक-गीतों के सभी प्रकार जन साधारण की झाँकी दिखाने में उतने ही सफल हुए हैं जितने अन्य प्रदेशों में। इनके द्वारा कुमाऊं निवासियों की भौगोलिक, राजनैतिक, सामाजिक आदि अवस्थाओं पर भी प्रकाश पड़ता है जिन्होंने निरन्तर उनका जीवन प्रभावित किया है। यह सामग्री मनोरंजन के साथ साथ लोक समाज के लिए प्रेरक शक्ति के रूप में भी कार्य करती है। यहाँ लोक गीतों में अभिव्यक्त सामाजिक चित्रण पर ही प्रमुख ध्यान रखा गया है।

कुमाऊंनी समाज को प्रभावित करने वाला एवं साहित्य में प्रमुख स्थान प्राप्त करने वाला तत्व प्राकृतिक वातावरण का है। कुमाऊं उत्तर प्रदेश के सभी पर्वतीय स्थानों में अधिक सुन्दर है। हिमालय की सुरम्य घाटियाँ कलकल करते झरने, ऊंचे देवदारु वृक्ष तथा लाल बुरुंश के फूल यहाँ के निवासियों को सदैव नई चेतना, नई स्फूर्ति प्रदान करते रहे हैं, साथ ही लोकगायक का मानस विस्मय और भय की भावना से भी अभिभूत हुआ है। उन्होंने प्रकृति-सौन्दर्य विषयक गीत गाए हैं, अंग प्रत्यंग के लिए नए नए प्राकृतिक उपमान दिए हैं। प्रसिद्ध 'संजा' अर्थात् सांध्यगीत इसका सुन्दर उदाहरण है जिसमें नीलकंठ हिमालय से लेकर आकाश पाताल, नौ खण्ड, कृष्ण द्वारिका, नंदन बैराठ, राम की अयोध्या, गेली समुद्र तक संध्या के फैलते जाने का काव्यात्मक वर्णन हुआ है और जिसमें संपूर्ण देश की एकता का बोध होता है।

"के संध्या भूली गे, छ, भगवाना
नील कंठा हिमाला
के संध्या भूली गे छ, हो रामा
आकाशा हें पताला...... ⋮"

किन्तु विचारणीय है कि यह प्रकृति कुमाऊं निवासी के लिए शुद्ध रूप में वरदान कभी नहीं रही। निरन्तर जीवन संघर्ष, जातीय वर्गभेद, आर्थिक वैषम्य ने उनका प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण ही बदल दिया। समाज की सामंती व्यवस्था, विभिन्न जातीय संघर्षों ने भी उनके गीतों में करुणा, अवसाद के भाव लाने में योग दिया है। गीतों के स्वरभेद, संगीतात्मक अंतर के लिए यह वातावरण-वैशिष्ट्य बहुत कुछ उत्तरदायी है। इनमें सीमांत-प्रदेश तिब्बत नैपाल के प्रभाव से लेकर, हिन्दू पुराणों, महाकाव्यों और मुसलमानी युग तक की भावनाएं मिलती हैं जबकि अंग्रेजी शासन और वर्तमान काल की विभिन्न परिस्थितियाँ उनका प्रिय विषय रही हैं। भावनाओं की अभिव्यक्ति होने के अतिरिक्त ये लोक गीत जनता के ज्ञान भण्डार भी हैं। आचार व्यवहार का इतना स्पष्ट किन्तु अप्रत्यक्ष संकेत अन्यत्र मिलना कठिन है।

विशेष समृद्ध होते हुए भी ये गीत अनेक कारणों से अभी तक कम प्रकाश में आ सके हैं। उपलब्ध सामग्री के आधार पर सामाजिक अभिव्यक्ति दो रूपों में प्रधानतः मिलती है—(१) परम्परागत गीतों के रूप में और (२) ऋतु, त्यौहार, उत्सव आदि सम्बन्धी गीतों में। पहले प्रकार के गीत पुत्रोत्सव, नामकरण, विवाह आदि संस्कारों के अवसरों पर मुख्य रूप से स्त्रियों द्वारा गाए जाते हैं। इनके संरक्षण का श्रेय कुमाऊंनी नारी समाज को ही है जो समयानुकूल इनका निर्माण, सुधार कर भावी पीढ़ियों के हाथ सौंप देता है! उन्होंने इन संस्कार गीतों द्वारा हिन्दू संस्कार बनाए रखे हैं और ये उन्हीं की एकमात्र संपत्ति हैं।

घर या समाज का प्रत्येक शुभ कार्य "शकुनाखर" से आरम्भ होता है जिसमें हिन्दू धर्म के सभी देवी देवता आमंत्रित किए जाते हैं। गणेश, राम, कृष्ण, ब्रह्मा आदि देवताओं से कार्य सफल कराने की प्रार्थना की जाती है,तब घर के सभी निकट या दूरस्थ सम्बन्धियों को आमंत्रित किया जाता है। गीत में पशुपक्षियों तक से भावात्मक साम्य स्थापित किया गया है। निम्न गीत में एक तोते के द्वारा संदेश भेजने में यही भावनाएं व्यक्त

हुई हैं। गीत 'सुम्राल पथाई' के समय का है जब विवाह के पूर्व लड़की के घर तैयारी हो रही है, सब कन्याएं बुलाई जा रही हैं—

"सुवा रे सुवा बनखण्डी सुवा
हरिया तेरो गात, पिङलो तेरो ठून
लला तेरी ग्राँखी, नजर तेरी बाँकी
दे सुवा नगरी न्यूत.........."

तब तोता पूछता है, किस घर जाऊं? मैं न नाम जानता हूँ न गाँव? तब उसे संबद्ध परिवार तथा व्यक्तियों का विस्तृत परिचय दिया जाता है। इसमें गीतकार का भाव तादात्म्य केवल मानवता तक ही सीमित नहीं है, ग्रपितु संपूर्ण लघुमहद् जीवित प्राणियों से है। यह व्यापकता या भाव प्रसार हमें लोक गीतों में ही उपलब्ध होता है।

विवाहोपरांत पुत्री की विदाई सर्वत्र करुण होती है। वह माँ की दुलारी है जिसने उसे पालपोस कर बड़ा किया, उपयुक्त गृहिणी के सभी गुण लाने का प्रयत्न किया किन्तु ग्राज वह वृद्धा भी ग्रपने को ग्रसहाय पाती है। कन्या भी माँ बाप की छत्रछाया छोड़ने में ग्रनमनी हो रही है! परदेस में भूख प्यास लगेगी। ग्रब रहा नहीं जाता! उधर माँ विसूरती है, ग्ररे लोगो इसे दुख न देना! इसे मैंने दस महीने दस धारों दूध पिलाया है! भारतीय जननी का यह ममत्व विलक्षण है जिसका उदाहरण बहुत कम ही मिलेगा—

"ग्ररि ग्ररि लोको पंडित लोको
मेरी छिया दुःख जन दीसा
दस भैण मैंले उरही में वाको
दस धारी दूद पेवायो........"

कंधों पर भारी घृहस्थी का बोझ संभाले हुए, पर्वतीय समाज में भारी उत्तरदायित्व निर्वाह करते हुए, कठिन जीवन संघर्षों का सामना करते हुए ग्रौर सदियों से कुछ भी निजी ग्रवकाश न पाते हुए कुमाऊंनी नारी समाज ने इसी तरह के गीत-माध्यम से ग्रपनी भावनाग्रों को प्रकट होने का एक मार्ग दिया है ग्रौर ये कुमाऊंनी गीत सारी मानवता के प्रति उनके स्नेह वात्सल्य के परिचायक हैं।

मेलों, त्योहारों एवं ऋतुग्रों से संबद्ध गीत विभिन्न नामों से ग्रभिहित किए जाते हैं जैसे 'बैर', 'झोड़ा' 'भगनौला' 'चाँचरों', 'न्योली' ग्रादि। ऋतु सम्बन्धी गीत 'ऋतु रैण' कहे जाते हैं जो 'ऋतुरायण' शब्द का ही कुमाऊंनी नामकरण है। इसका ग्रारम्भ हिन्दू वर्ष के पहले महीने चैत से होता है। कुछ ऋतुरैण एक पंक्ति में बारहों महीनों की विशेषताएं स्पष्ट करते हैं। इस ग्रवसर पर ग्रामीण गायक हुड़किया—जो स्थानीय भाषा में 'ग्रौजी' या 'ढोली' कहा जाता है (वैसे 'ग्रौजी' 'ढोली' 'हुड़किए' से ग्रलग होते हैं)—एक गीत बद्ध कथा द्वारा किसी दूरस्थ बहिन की भाई के प्रति मिलने की ग्रातुरता व्यक्त करता है। कुमाऊंनी समाज में यह प्रथा है कि चैत्र महीने में भाई बहिन के घर भेंट लेकर जाय। उसकी कुछ पंक्तियाँ हैं—

"गैला मैला पातली में न्योली वासली
ऊंचा धुरा सिकारी कौ कफुवा वासलो
बास बास न्योली चड़ी मैती का दिसा
ईजू मेरी सुणौली भागी भिटौली लगाली
रुण भूण रितु ए गे छ इजू.............."

ग्रर्थात् बहिन कहती है—न्योली, ऊंचे शिखरों पर कफुवा पक्षी बोलने लगे हैं। ग्रो न्योली चिड़िया, मायके की ग्रोर ग्रावाज दे! माँ सुनेगी तो (मेरा स्मरण कर) भेंट भेजेगी! ग्रो माँ, रूखे सूखे दिन ग्राने लगे...ग्रादि। गीत लम्बा है ग्रौर ग्राद्योपांत उसकी कथा, गायन पद्धति दोनों ही बड़े करुण एवं मर्मस्पर्शी हैं।

'झोड़ा', 'बैरा', 'चाँचरी' ग्रादि गीत जन सामान्य के दैनिक जीवन के निकटतम संपर्क में होते हैं। वे समयानुकूल परिस्थितियों पर प्रकाश डालते हैं ग्रतः उनकी रचना किसी भी समय, कहीं पर भी ग्रौर किसी भी समसामयिक विषय पर हो सकती है जैसे दीवानी, फौजदारी मुकदमे, भूमि नाप सम्बन्धी कार्य, दरिद्रता या दुर्भिक्ष से उत्पन्न कटुता ग्रादि! जैसे इस गीत में कहा गया है घर में खाने को मोटा ग्रन्न मडुवा तक नहीं ग्रौर तुम पान खाने को कहती हो! समय ही

ऐसा आ गया है—

"बसंती बखतै यसै छ
मडुवा मश्याल न्हाती तू माँगै छी पाना
भूखै लै बिडौल बसंती, जमानै यसै छ !"

एक दूसरे गीत में कांग्रेसी राज्य और समकालीन विकास कार्यों की प्रशंसा की जा रही है—ऐसा राज्य कभी नहीं हुआ। कोसी नदी से अलमोड़ा बाजार में पानी पहुँच गया है, पहाड़ों में विकास योजनाएं खुल गई हैं, गाँवों में स्थान-स्थान में पानी है, सिमेंट की डिग्गियाँ बन गई हैं, दुनियाँ भर की खबर पंचायत भवन में सुनी जा सकती है, आदि ! भले ही इन गीतों में 'रेडियो' शब्द को 'रेडुवा' का, 'योजना' शब्द को 'जोजना' का, 'श्रमदान' शब्द को 'समरदान' का चोला धारण करना पड़ा है लेकिन मोटर रोड से लेकर बिजली के रंगीन बल्व और नए पंचायती क्लब भी इनकी सूक्ष्म दृष्टि से बच नहीं सके हैं।

कुमाऊंनी हिन्दू समाज में विधवा का जीवन बड़ा दयनीय है, वस्तुतः वैधव्य ही उसके लिए अभिशाप है। उसे समाज में जीवित रहने का भी अधिकार नहीं ! विष बूंद की तरह रहकर लाभ क्या ? मर जाना ही अच्छा है ! शत्रु के घर भी लड़की उत्पन्न न हो ! शेर बाघ के खाने पर तो तुरन्त मौत हो जाती है किन्तु विधवा मरने के वाद भी मरती रहती है, समाज उसे नहीं छोड़ता ! जब कोई बात विगड़ गई तो ससुराल मायके वालों के मुख स्याही लग जाती है ! दिन रात रोना धोना है, उसका तो जीवित रहना या मर जाना,—दोनों ही दुःख के कारण होते हैं !

निश्चय ही इस प्रकार के गीत, प्राचीन संस्कार एवं समाज की सामंती व्यवस्था के द्योतक हैं जिसमें स्त्री पुरुष का समान स्तर स्वीकार नहीं किया गया, नारी जीवन हेय माना गया। बीसवीं सदी में सुधार हुआ है, वरावर अधिकारों की मान्यता हुई है, फिर भी यह भावना पूर्णतः समाप्त हुई कहाँ है ? कुमाऊंनी लोकगीत प्राचीन युग से लेकर आज तक इस भावना, सामाजिक स्थिति का साक्षात् चित्र उपस्थित करते हैं !

कृषि सम्बन्धी गीत स्थानीय भाषा "हुड़कियावौल" कहलाते हैं जो धान की रोपाई के समय गाए जाते हैं। हुड़का मुख्य गीत-वाद्य होता है। इनमें प्राचीन ऐतिहासिक, अर्ध एतिहासिक या जातीय वीरों की कथायें बहुत धीरे-धीरे हुड़के के साथ गाई जाती हैं, क्योंकि गायक का मुख्य उद्देश्य रोपाई करने वालों को अपने कार्य में संलग्न रखना होता है। ये गीत मानव मात्र के प्रति शुभाकांक्षा व्यक्त करते हुए आरम्भ किए जाते हैं और जीवन सत्य का प्रतिपादन करते हैं। लम्बी-लम्बी पद्यवद्ध कथाओं द्वारा जीवन के बहुरंगी एवं कठोर—दोनों पक्षों का उद्घाटन होता है। कुमाऊं के विभिन्न ग्रामों में विभिन्न वीरकथा-गीत प्रचलित हैं जिनमें 'हिरू हित', 'राणी रौत', 'रामी बौर', 'राजा उदैचन्द', 'भीमसेन पांडव' के आख्यान प्रमुख हैं।

कुमाऊं के सीमावर्ती जोहार तथा दारमा क्षेत्र के लोक-गीत भी स्थानीय विशेषताओं से युक्त समाज की भावनाएं चित्रित करते हैं। जोहार का ऊनी व्यापारी शीतकाल में व्यापार के लिए मैदानी भागों में उतर आता है अतः ग्रीष्मावासों में लौटने तक पाँच छः महीने लग जाना स्वाभाविक है। परिवार के सदस्यों को इस बीच कठोर प्रतीक्षा करनी ही पड़ती है। तत्संबंधी एक गीत में साली बहनोई का वार्तालाप है। बहनोई कहता है हम मार्गशीर्ष अर्थात् नवंबर के महीने देश चले जाएंगे और चैत्र अर्थात् मार्च तक वापस लौट सकेंगे ! ऐ सुरमा, तुम्हारी हमारी भेंट कब होगी ? साली पहाड़ी के उस पार से उत्तर देती है—ओ जयसिंह बहनोई, चंपा-चोड़री लताओं के बीच हमारी तुम्हारी भेंट होगी। किंतु देश जाकर तुम मेरे लिए लाओगे क्या ? वह उत्तर देता है—नेवर और काला गोखर आभूषण लाऊंगा ! मूल पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"मालन जौंल मंसीर माह पलटौंल चैत
तूमी न हामी सुरमा कव होली भेंट ?
तूमी ना हामी हो भीना जैसिङ्, चंपा चोड़री भेंट !
मालन जाले भीना जैसिङ्, कियो ल्हौले ?

त्वै की में ल्हौल साली सुरमा गाठी को नेवर....
त्वै की में ल्हौल साली सुरमा कानै की गोखर !...."

ऐसे वाक्यों द्वारा प्रश्न-उत्तर-प्रत्युत्तर की यह परंपरा गीतों को मधुर ही नहीं बनाती अपितु पर्वतीय निवासियों को जीवन वैषम्य का सामना करने की सामर्थ भी देती है।

कुमाऊंनी लोक गीत संगीत प्रधान लोक गीत हैं। उनकी एक सामान्य विशेषता यह है कि उनमें प्रेम तत्व की प्रधानता है ! यहाँ के जन-जीवन व वातावरण में ही सौन्दर्य, प्रेम के तत्व प्रमुख हैं। अतः गीतों का निर्माण एक रूमानी धरती पर होता है जहाँ युवक युवतियाँ या तो अदृष्ट द्वारा दूर दूर रखे जाते हैं या एक दूसरे के लिए प्रतीक्षा ही करते रह जाते हैं। वे सब कुछ भूल सकते हैं पर प्रिय को नहीं ! रक्त वर्ण 'बुरुंश' फूल ही प्रिय बन कर आँखों के सामने दिखाई देने लगता है—

"पारा डाना बुरुंशी फुलै छ
मैं ज कौनूं मेरी हिरु ए रै छ !"

साहित्य में प्रेम का रंग लाल माना गया है और यहाँ बुरुंश फूल भी लाल है। इतना गहरा भाव तादात्म्य कि तल्लीन होते होते फूल में ही प्रिय-दर्शन करने लगना सूफियों की साधना से कम नहीं और ऐसे उदाहरण अन्यत्र कम ही मिलते हैं क्योंकि यह प्रेम 'मजाक की हद तक' नहीं पहुँचता, बाल्यकाल से ही साहचर्य के कारण उसमें गंभीरता बनी रहती है। कुमाँऊनी समाज में प्रेम सौंदर्य भी उन्मुक्त है और जीवन संघर्ष, आर्थिक वैषम्य भी अधिक है। दोनों का मिश्रण लोक गीतों में भी साथ-साथ उपलब्ध होता है।

इनकी तुलना यदि पंजाबी, राजस्थानी या उत्तर प्रदेश में ही ब्रज, अवधी, या भोजपुरी आदि लोक गीतों से की जाय तो अनेक समानताएं लक्षित होती हैं। कारण स्पष्ट है। भौगोलिक दूरी होते हुए भी विभिन्न क्षेत्रों में निवास करने वाला जन-मानस तो एक ही होता है, राग, करुणा, घृणा, ईर्ष्या आदि भावनाएं तो सर्वत्र समान ही होती हैं। हाँ, कुछ वाह्य कारण उनकी अभिव्यक्ति, रूपरेखा में अंतर अवश्य उत्पन्न करते हैं। माध्यम बदल सकते हैं, किंतु मूल भाव नहीं। यही कारण है कि सामाजिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए क्यों कुमाऊंनी लोक गीतों का अन्य क्षेत्रीय लोक गीतों के साथ तुलनात्मक अध्ययन अंतर के साथ अनेक समानताएं भी स्पष्ट करता है।

कुमाऊंनी लोकगीतों का भण्डार आज भी समृद्ध होता जारहा है। जन मानस की सक्रियता व निरंतर प्रवहमान शक्ति उन्हें भी गतिशील रखती है। ये वर्णन शैली, छन्द, काव्यत्व की दृष्टि से भी महत्व पूर्ण हैं किंतु मुख्य विशेषता यही है कि उसमें कुमाऊंनी समाज की परंपराएं, आचार-विचार, प्रथाएं सही सही प्रतिबिंबित होती रही हैं। यहाँ अतीत काल से खस, नाग, शक आदि जातियों का बड़ा प्राधान्य रहा, वे इतिहास की जातियाँ हो गईं जबकि लोक गीतों के विविध रूपों में उनका प्रभाव विद्यमान है। अधिकांश अलिखित होने से उनके अनेक भेद, रूपांतर भी मिलना स्वाभाविक है और भाषा का अंतर भी है। जोहार की भाषा समझ में आती है पर दारमा क्षेत्र की भाषा अपरिचित सी लगती है।

कठिनाई होते हुए भी उपलब्ध सामग्री उनके उज्ज्वल भविष्य का संकेत करती है। अंधकार में छिपी मूल्यवान सामग्री को संकलित, संपादित करना विद्वानों व अध्येताओं का इस समय कर्तव्य है। उनसे कुमाऊंनी समाज व संस्कृति के विशिष्ट तत्वों का उद्घाटन होना समय की आवश्यकता है। कुमाऊंनी लोक गीत कुमाऊं समाज की मिश्रित संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनका महत्व एक पंक्ति से ही समझा जा सकता है जिसमें कहा गया है—लड़ मर कर क्या होगा ? लड़ाई तो धोखा है ! बस धरती की कोख हरी रहनी चाहिए !

पुस्तक-समीक्षा

प्रतापनारायण ग्रन्थावली— प्रथम खंड, सं० विजयशंकर मल्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, मूल्य १०)

प्रतापनारायण मिश्र भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और बालकृष्ण भट्ट के साथ आधुनिक हिन्दी गद्य के प्रमुख निर्माताओं में थे। उनके लेखों का यह संग्रह प्रकाशित करके श्री विजयशंकर मल्ल और नागरी प्रचारिणी सभा ने हिन्दी साहित्य की प्रशंसनीय सेवा की है। इस समय प्रकाशन-जगत् में ज्वार आया हुआ है। हर तरह के आकार, विषयवस्तु और स्तर की पुस्तकें निकल रही हैं किन्तु इनके प्रकाशकों में बहुत कम का ध्यान उन मेधावियों की रचनाओं के संकलन प्रकाशित करने की ओर जाता है जिन्होंने हिन्दी-गद्य को उसकी प्रारम्भिक अवस्था में संवारा था। अभी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के निबन्धों का ही संकलन अधूरा है। कवि वचनसुधा की फ़ाइलें नष्ट हो रही हैं और कुछ दिन में उनका गद्य अलभ्य हो जायगा। प्रेमचन्द-स्मारक में पैसा खर्च करने के बदले यदि नागरी प्रचारिणी सभा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और बालकृष्ण भट्ट का संपूर्ण गद्य साहित्य प्रकाशित कर दे तो इससे हिन्दी का बड़ा उपकार होगा।

श्री विजयशंकर मल्ल ने अपने वक्तव्य में ठीक लिखा है, "भारतेन्दु-युग के ऐसे जीवन्त लेखक को समझने और परखने का साधन—उसका साहित्य—आँखों से ओझल हो रहा है। उनकी पुस्तकों में से कुछ अलभ्य हो गईं, कई दुर्लभ हैं। दो एक जगह बेतरह औंधे 'ब्राह्मण' देवता भी जीर्ण कलेवर हो गये हैं और पाँच सात साल में उनका छूमंतर हो जाना प्रायः निश्चित है।" यह दशा भारतेन्दु युग के लगभग सभी लेखकों की रचनाओं की हो रही है। ऐसी हालत में प्रतापनारायण मिश्र का यह लेख संग्रह छपा, यही गनीमत है।

इस संग्रह में मिश्रजी का अधिकांश निबन्ध साहित्य आगया है। इन निबन्धों का ऐतिहासिक महत्व तो है ही; ये उस विषम मार्ग का इतिहास है जिसे पार करके हिन्दी हमारी जातीय भाषा बनी है। इसके सिवा इनका एक सजीव साहित्यिक मूल्य है; वे पाठकों का मनोरंजन करते हैं और हिन्दी लेखकों को सरल मुहावरेदार भाषा लिखने की प्रेरणा देते हैं। इन्हें पढ़ते हुए एक बार फिर हम ज़िन्दादिली की पुरानी दुनिया में पहुँच जाते हैं और प्रतापनारायण मिश्र की रचनाओं में भारतेन्दु युग की झांकी देख लेते हैं।

दूसरे खंड में मिश्र जी के नाटक, कविताएं, पत्र आदि प्रकाशित होंगे। उसकी प्रतीक्षा रहेगी।

—रामविलास शर्मा

चन्दसखी की जीवनी और पदावली—रचयिता: प्रभुदयाल मीतल, प्रकाशक—अ० भा० ब्रजसाहित्य मंडल, मथुरा, पृष्ठसंख्या—१२३, मूल्य १॥)।

सं० प्रभुदयाल मीतल, प्रकाशक, ब्रजसाहित्यमंडल मथुरा, चंदसखी नाम के महात्मा की रचनायें यत्र तत्र संग्रहों में देखने में आती हैं। मीतल जी ने इन्हीं रचनाओं को एकत्र कर संपादित किया है। साथ ही उनकी जीवनी पर भी विचार किया है। इस पुस्तक के प्रकाशन से पहिले उन्होंने "चन्द्रसखी की जीवनी और रचनाओं की खोज" शीर्षक 'हिन्दी अनुशीलन' में वर्ष १० अंक २ में एक लंबा लेख लिखा था। वही किंचित् हेर फेर के साथ इस पुस्तक में भूमिका के रूप में जोड़ दिया गया है, अतएव जीवनी सम्बन्धी सामग्री पर विचार करते समय उसे भी ध्यान में रखना चाहिए। उक्त लेख और इस भूमिका में बहुत सी बातें ऐसी हैं जो निभ्रांत नहीं हैं। उदाहरण के लिए चंदसखी का काल निश्चय करने में उन्होंने श्री अगरचंद नाहटा को कई अंशों में निर्णायक प्रमाण माना है। वे लिखते हैं "श्री अगरचंद जी नाहटा ने चंदसखी के काल पर विचार करने के लिए एक ठोस ऐतिहासिक आधार उपस्थित किया है। नाहटा

जी ने लिखा है कि जैन कवि न्याय सागर (सं० १७२८-१७९७) ने "चतुर्विंशतिजिनस्तवन" के अन्तर्गत "वास्तु पूज्य स्तवन" बनाया है उस स्तवन के सम्बन्ध में कवि का निर्देश है कि उसे 'ब्रज मंडल देस दिखावो रसिया' की चाल में गाना चाहिए। नाहटा जी का मत है "चंदसखी के इस भजन का प्रसार सं० १७६६ के आस-पास राजस्थान में अच्छा रहा होगा। उसकी प्रसिद्धि एवं लोकप्रियता के कारण ही कवि ने 'वास्तु पूज्य स्तवन' में इसकी चाल को अपनाया है, इससे हम चंदसखी का समय इससे पूर्व ही निर्धारित कर सकते हैं।" नाहटा जी ने चंदसखी का समय सं० १६७५ से १७२५ तक अर्थात् सं० १७०० के आस पास माना है। यह ठोस प्रमाण ऊपर से मीतलजी को जितना ठोस दिखाई दिया है वस्तुत: भीतर से उतना ही खोखला है कारण यह है कि पहिले तो यही निचिश्त नहीं है कि "ब्रज मंडल देश दिखावो रसिया" यह भजन चंदसखी का है। कारण यह कि कई प्रान्तों में कई नामों से प्रचलित है। दूसरे इसके लिए स्वयं उन्होंने चंदसखी का कोई प्रमाण नहीं दिया है।

मीतल जी ने चन्दसखी को राधाबल्लभीय सम्प्रदाय का मानकर अपने मत की पुष्टि के लिए ही प्रमाणों का संकलन किया है। किन्तु इस विषय में मुख्य विचारणा यह है कि राधावल्लभीय सम्प्रदाय में परमाराध्या राधा हैं। इस सम्प्रदाय में राधा की स्थिति स्वकीया या परकीया से भिन्न मानी गई है। राधाकृष्ण के युगल रूप की उपासना इस सम्प्रदाय की परम्परा है किन्तु बल्लभ-सम्प्रदाय में कृष्ण और उनकी बाललीला को मान्यता दी है वह इस सम्प्रदाय को स्वीकार्य नहीं है। चन्दसखी के पदों में सर्वत्र बालकृष्ण छबि या प्रभु का स्मरण किया गया है। अतएव इतनी सैद्धान्तिक विषमता रहते हुए भी मीतल का मत कैसे मान्य हो यह विद्वानों के बिचारने की बात है।

इस भूमिका में सर्वत्र चन्दसखी को लोक-रचनाकार "लोक कवि" लिखा गया है। पता नहीं विद्वान सम्पादक ने लोक का क्या अर्थ समझा है? भूमिका में यह भी उल्लेख है कि चन्दसखी के पदों का एक संग्रह उत्तर प्रदेशीय सरकार की ओर से भी प्रकाशित किया गया है। अतएव चन्दसखी की रचनाओं की उस पक्ष की विचारणा तो उक्त समिति सरकार ने की ही होगी! पर यह अत्यन्त स्पष्ट है कि चन्दसखी की रचनायें लोकगीत नहीं है।

इस पुस्तिका में जिन पदों का संग्रह है उसे विद्वान सम्पादक ने श्री अगरचन्द नाहटा, श्री गहलोत, श्री उदयशंकर शास्त्री के संग्रहों से एकत्र किया है। तो इसका उचित रूप यह था कि इनको अलग-अलग खंड में आवश्यक टिप्पणी के साथ प्रकाशित किया जाता। पर विद्वान सम्पादक ने यह आवश्यक नहीं समझा जो इस प्रकार की सामग्री वाले ग्रन्थों के सम्पादन के समय ध्यान में रखने की परिपाटी है।

अन्त में एक सबसे अधिक खटकने वाली बात यह है कि पुस्तक प्रकाशित हुई है ब्रजसाहित्य मंडल की ओर से और विज्ञापन किया गया है लेखक की अन्य रचनाओं का, इससे यह ध्वनित होता है कि सम्पादक कितना उक्त संस्था पर हावी है। छपाई सफाई साधारण।

—विभूतिरंजन त्रिवेदी

नये हाथ—लेखक – श्री विनोद रस्तोगी
प्रकाशक—आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली—६
पृष्ठ संख्या ११४, मूल्य दो रुपये।

'नये हाथ' नाटक में स्वतन्त्रता और जमींदारी-उंन्मूलन के फलस्वरूप सामन्तवादी घरानों में उत्पन्न होने वाली उथल-पुथल का चित्रण किया गया है। नाटक का कथानक पुरानी पीढ़ी के पुरातन दृष्टिकोण वाले और नई पीढ़ी के प्रगतिशील दृष्टिकोण वाले सामन्तों के विचार-वैषम्य और संघर्ष पर निर्भर है। कहना न होगा कि इसमें विजय नये दृष्टिकोण वाले नवयुवकों की ही होती है। उन्हीं प्रगतिशील नवयुवकों के कारण इस नाटक को **'नये हाथ'** के नाम से पुकारा गया है।

नाटक का प्रमुख पात्र कुंवर महेन्द्रपाल एक राजा का पुत्र है। इंगलैण्ड में शिक्षा पाने के कारण उसके

और उसकी बहन शालिनी के दृष्टिकोण में एक महत्व-पूर्ण परिवर्तन आगया है। दोनों जाति-पाँति और सामंतवादी परम्पराओं के विरोधी स्वतन्त्र विचारों वाले व्यक्ति हैं। अपने इन्हीं प्रगतिशील विचारों को लेकर वे दोनों अपने पिता द्वारा दिये ऋण के रुपयों को लेने के लिए एक पुराने ताल्लुकेदार अजयप्रताप के यहाँ आते हैं। अजयप्रताप उन ताल्लुकेदारों में हैं जो 'रस्सी जल गई पर बल नहीं गये' कहावत की याद दिलाते हैं। जमींदारी समाप्त होने पर भी अपनी जीविका चलाने और झूठी शान बनाये रखने के लिए वे किसी कार्य के करने की अपेक्षा ऋण के रुपये के सहारे चलना अधिक अच्छा समझते हैं। परन्तु जब वे कुँवर महेन्द्रपाल की रुपये वसूली के लिये आने की खबर सुनते हैं तो उनके पैरों तले धरती खिसक जाती है। कोई अन्य रास्ता न देख वे अपनी चतुर पत्नी माधुरी के सुझाव पर अपने एकमात्र धन अपनी युवा पुत्री माला को कुँवरसाहब की भेंट चढ़ाने का इरादा कर लेते हैं कि यदि उनकी पुत्री माला और कुँवरसाहब विवाह-सूत्र में बंध सकें तो ऋण चुकाने की बात टल जायेगी। परन्तु जब कुँवर महेन्द्रपाल ताल्लुकेदार साहब के घर पहुँचते हैं तो वे उनकी पुत्री माला से अधिक उनकी युवा नौकरानी बालो के प्रति आकर्षित होते हैं। अपनी अनुभव भरी पैनी दृष्टि से वे यह जान लेते हैं कि माला उनसे अधिक अपने गरीब सहपाठी सतीश को चाहती है। उधर कुँवर साहब की बहन शालिनी अजयप्रताप के छोटे भाई विजयप्रताप से प्रेम करने लगतीं हैं। अन्त में कुँवर-साहब अपने धन के प्रभाव के कारण ताल्लुकेदार साहब को माला का विवाह सतीश से और शालिनी का विवाह विजयप्रताप से कराने के लिए तैयार कर लेते हैं। अपने लिए वे ताल्लुकेदार साहब की नौकरानी और अवैध सन्तान बालो को चुन लेते हैं।

इस नाटक का कथानक दो अङ्कों तक बड़े सुचारु रूप से चलता है। इन दो अङ्कों तक घटनाओं का विकास स्वाभाविक रूप से होता है पर तीसरे अङ्क तक पहुँचते-पहुँचते लेखक अपना धैर्य खो बैठता है और घटनाओं का निर्देश स्वयं करने लगता है। इसके कारण इस अङ्क में कथानक का स्वाभाविक विकास रुक जाता है और नाटक का अन्त अस्वाभाविक और अरोचक हो जाता है। यही नहीं इस अङ्क में कुँवर महेन्द्रपाल जिस स्वेच्छाचारिता से विभिन्न पात्रों को विवाह-सूत्र में बाँधते हैं वह अस्वाभाविक ही नहीं हास्यास्पद भी हो जाता है। अच्छा होता यदि लेखक तीन विवाहों का स्वाँग न रचाकर केवल विजयप्रताप और शालिनी अथवा महेन्द्रपाल और बालो के विवाह से ही संतुष्ट हो जाता। तीन विभिन्न पात्रों का प्रेम-सम्बन्ध थोड़े से पृष्ठों में निश्चित और स्वाभाविक रूप से चित्रित नहीं किया जा सकता; उसके लिए पर्याप्त स्थान चाहिए।

इसी त्रुटि के कारण लेखक के कुछ चरित्र निर्जीव और बनावटी हो गये हैं। सतीश का चरित्र इतना उथला है कि हमें विश्वास ही नहीं होता कि माला उसके प्रति इतनी आकर्षित भी हो सकती है। कुँवर महेन्द्रपाल की आदर्शवादिता अविश्वसनीय ही नहीं हास्यास्पद भी है। बालो के प्रति उनका प्रेम जिस तेजी से आगे बढ़ता है और जिस तेजी से वे उसके साथ विवाह करने का निश्चय कर लेते हैं वह बहुत ही असं-गत और बनावटी लगता है। प्रसिद्ध अंगरेजी नाटक-कार जार्ज बर्नर्ड शा अपने नाटक 'आर्मस एण्ड द मैन' में सर्जियस और लूका को विवाह-सूत्र में बाँधने के लिये पर्याप्त पृष्ठ-भूमि तैयार करते हैं और फिर भी उसे पूर्णतया स्वाभाविक नहीं बना पाते। 'नये हाथ' के लेखक ने तो महेन्द्रपाल और बालो के प्रेम-सम्बन्ध को विकसित कराने के लिए उसके अनुपात में शतांश भी प्रयत्न नहीं किया है।

इस तीसरे अङ्क के कथोपकथन भी उतने प्रभाव-शाली और स्वाभाविक नहीं हैं जितने कि पहले दो अङ्कों के हैं। कांग्रेस के चुनाव के प्रसंग को कुँवर महेन्द्रपाल और अजयप्रताप के बीच होने वाले वार्तालाप में जबरन शामिल कर दिया गया है। इस अङ्क में व्यक्त विभिन्न पात्रों के सम्वाद इतने अस्वाभाविक और हास्यास्पद हैं कि उन्हें पढ़कर उनसे प्रभावित होना तो

दूर उलटे उनसे झुंझलाहट ही होती है। इस तृतीय अङ्क के कारण ही यह नाटक उत्कृष्ट नाटक होते-होते असफल नाटक बन गया है।

लेखक की इस असफलता का बहुत कुछ कारण उसके विचारों की अपरिपक्वता और अस्पष्टता में निहित है। लेखक का विचार है कि इंगलेण्ड में शिक्षा प्राप्त करने मात्र से ही कोई भी व्यक्ति वर्ग-भेद को भूलकर प्रगतिशील बन सकता है। उसे नहीं मालूम कि वर्ग-भेद इंगलेण्ड में भी उतना ही है जितना भारतवर्ष में और यदि इंगलेण्ड की हवा में इतना चमत्कार होता तो भारतवर्ष में वर्ग-भेद अब तक बिल्कुल न रह पाता क्योंकि उसे बनाये रखने वाले राजाओं, ताल्लुकेदारों और सेठों के लड़कों को इंगलेण्ड में शिक्षा पाने के बहुत अवसर मिले हैं, परन्तु वहाँ शिक्षा प्राप्त करने के बाद भी उन्होंने वर्ग-भेद को घटाने की जगह बढ़ाया ही अधिक है। यही नहीं, लेखक की धारणा है कि मानव संस्कृति वर्ग-भेद से परे है। सतीश और महेन्द्रपाल के बीच होने वाले वार्तालाप से यह स्पष्ट है—

सतीश—(महेन्द्रपाल से हाथ जोड़कर) उच्च वर्ग के तौर-तरीकों से अनजान हूँ। यदि कोई अशिष्टता हो गई हो तो क्षमा करें।

महेन्द्रपाल—(उठकर) यह न भूलो कि वर्ग-भेद मानव संस्कृति को विभाजित नहीं कर सकता। हम सब मनुष्य हैं।

सतीश—(आवेश में) ये बातें केवल कहने-सुनने के लिये ही हैं, कुंवर साहब।

महेन्द्रपाल--(हंसकर) ऐसी बात तो नहीं है। अपना-अपना दृष्टिकोण है। तुम्हारी दृष्टि सीमित है। तुम अपने संस्कारों में बुरी तरह जकड़े हुये हो। झूठी जंजीरों को तोड़ फेंकने की तुममें हिम्मत नहीं।

लेखक नहीं समझता कि व्यक्ति के स्वार्थ मानव संस्कृति के प्रति उसके दृष्टिकोण को भी बदलते रहते हैं और जो व्यक्ति जिस वर्ग का होता है उसी के स्वार्थों के अनुसार उसका दृष्टिकोण भी होता है। अतः अविभाजित मानव संस्कृति वर्ग-हीन समाज में ही संभव है। वैसे तो "मानव संस्कृति एक है" का नारा उसी वर्ग के लोग अधिक लगाते हैं जो गरीबों का शोषण कर इस एकता पर सबसे अधिक प्रहार करते हैं।

यों विनोद रस्तोगी में एक उत्कृष्ट नाट्यकार होने के पर्याप्त गुण हैं। वे यदि चाहें तो अच्छे सम्वाद लिख सकते हैं और सफलता के साथ चरित्र-चित्रण कर सकते हैं। उनके यह गुण पुस्तक के ७१ पृष्ठों तक भली प्रकार दिखलाई पड़ते हैं, यद्यपि इसके बाद लेखक ने जान-बूझकर उनकी हत्या की है। यही नहीं नाट्यकार और नाट्य-मण्डलों के निर्देशकों में कैसा सम्बन्ध होना चाहिए, उसे भी वे भली प्रकार समझते हैं। उनकी विचारधारा भी उदार और प्रगतिशील है। उनका एक पात्र 'नवाब यूसुफ' कहता है--

"समझदारी से काम लीजिए, ठाकुर साहब। ज़िद ठीक नहीं। नयी इन्सानियत के इन नये हाथों को तहजीब और समाज के पतवार लेने दीजिए। इन्हें मशाल लेकर अंधेरे में भटकने वालों को नयी रोशनी दिखाने दीजिये। मेरी तो यही राय है, आगे आपकी मर्जी।"

यदि जन-जीवन में गहरे पैठकर लेखक अपने अनुभव को बढ़ा सका और अपने विचारों को स्पष्ट और सुव्यवस्थित कर सका तो वह अवश्य ही उत्कृष्ट नाटक लिखकर अंधेरे में भटकने वाले आज के समाज को नई रोशनी दिखा सकेगा।

—हरीश रायजादा

गाँधी शतक—रचयिता प्रो० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय एम० ए०।

प्रकाशक—साहित्यरत्न-भण्डार, साहित्यकुंज, आगरा।

मूल्य—।।।) पृष्ठ संख्या लगभग ६०।

'गान्धीशतक' उपाध्यायजी की ब्रजभाषा कविताओं का प्रथम संग्रह है। जैसा कि पुस्तक के नाम से ही स्पष्ट है, प्रस्तुत रचना का मूल विषय गाँधी है। यह

पुस्तक ऐतिहासिक दृष्टि से 'उद्धवशतक' की परम्परा में एक प्रमुख कड़ी जोड़ती है। यद्यपि आज गांधीजी का चिन्तन व्यक्ति परक और अव्यावहारिक हो चुका है, उनकी सत्याग्रह, अहिंसावाद तथा हृदयपरिवर्तन वादी नीति का भी अब पूर्ववत् महत्व स्वीकार करने में एक प्रकार की झिझक होती है; तथापि गांधीशतक में क्योंकि यह कवि की लगभग १५ वर्ष पूर्व की रचना है, स्वतंत्रता से पूर्व की बीसवीं शताब्दी का सम्पूर्ण राजनैतिक, सामाजिक तथा नैतिक मूल्यांकन कवि ने अत्यंत सरस ढंग से प्रस्तुत किया है। गांधीवादी राजनीति–जो कि नैतिकता पर आधारित है-सामाजिक क्रान्ति तथा मध्ययुग की संत परम्परा के करुणा, विश्वास एवं नैतिकतापूर्ण मूल्यों का उद्घाटन ही कवि को अभिप्रेत है। साथ ही साथ कवि ने इन प्राचीन मूल्यों का वर्त्तमान संघर्षयुग के अनुकूल पुनर्विश्लेषण भी स्थान-स्थान पर प्रस्तुत किया है। 'गांधीशतक' में वर्णित सत्य एवं अहिंसा को कवि मानवतावादी भाव भूमि तक लाने में पर्याप्त सीमा तक सफल हुआ है।

इसके अतिरिक्त कवि ने अपनी कृति के अधिकांश में गांधीजी के व्यक्तित्व और उनके दर्शन के विराट् विश्वव्यापी प्रभाव को तूलीबद्ध किया है जिसमें निःसन्देह वह पद्माकर, देव, भूषण तथा रत्नाकर आदि प्रसिद्ध व्रजभाषा के कवियों की पुरानी लीक पर चला है। स्थान-स्थान पर पद्माकर का-सा गठन, देव की-सी कवित्तगरिमा, भूषण जैसा उदात्त यशोवर्णन एवं रत्नाकर की-सी काव्यगत-प्रवाहपूर्ण गत्यात्मकता इस पुस्तक में दृष्टिगोचर होते हैं। इनमें भी सर्वाधिक प्रभाव कवि पर भूषण तथा रत्नाकर का है। आश्रयदाताओं की जो अतिशयोक्तिप्रवण यशोवन्दना रीतिकाल की एक प्रमुख परिपाटी बन गई थी उसी को उपाध्यायजी ने, जनमानस को तरंगायित करने वाले बापू के उत्ताल आदर्शों को कविता में प्रतिच्छायित करने के लिए, अपना माध्यम स्वीकार किया है। परिणामस्वरूप कहीं-कहीं गांधीजी का प्रभाव वर्णन अतिरंजित हो उठा है, उदाहरणार्थ ६६ तथा ६५ कवित्तों में कवि ने उन्हें राम, कृष्ण तथा बुद्ध के समान ही ब्रह्म का अवतार तक स्वीकार कर लिया है। यों तो कवि ने गांधीजी के राजनैतिक जीवन का ही विशद चित्रांकन किया है फिर भी दो-एक पद्यों में उनके जीवन चरितात्मक चित्र भी बन पड़े हैं, जैसा कि ६८ वें कवित्त से इंगित होता है।

'गांधीशतक'–एक राष्ट्रीय काव्य है, अतएव इसमें यत्र तत्र प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक उच्चता, देश प्रेम, स्वातंत्र्यनिष्ठा एवं पुरातनोन्मुखता के दर्शन भी होते हैं। कहीं यदि कवि ने होमर और कलिदास, शैक्सपियर और सूर, अरस्तू तथा चाणक्य एवं शैली तथा प्रसाद की तुलना में स्वदेशी उपलब्धियों को उत्कृष्ट ठहराया है (देखिये कवित्त ४६) तो कहीं शुभ्रधवल हिमकिरीट मण्डित-तरङ्गनूपुरा–सिन्धुवती–विन्ध्यमेखलिता भारत जननी का उदात्त एवं भव्य रूप भी अंकित किया है जैसा कि ६७ वें कवित्त से प्रतीत होता है।

'गाँधीशतक' शास्त्रीय आलोचना की दृष्टि से खण्डकाव्य की श्रेणी में रखी जाने वाली रचना है जिसमें गांधीजी के दार्शनिक, नैतिक, अर्थशास्त्री एवं युगपुरुषता के खण्ड चित्र प्राप्त होते हैं तथा भारतीय स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए किए गए अनेक प्रयत्नों का विवरण भी कवि ने अधिकांश कवित्तों में दिया है। 'असहयोग' 'स्वदेशी' तथा 'भारत छोड़ो' आन्दोलनों एवं गोलमेज परिषद् आदि अनेक राजनैतिक घटनाओं की ओर उपाध्याय जी ने संकेत किया है।

'गांधीशतक' मुख्यतः वीररस प्रधान रचना है। अहिंसक-गांधी का वीररस पूर्ण चित्रण कवि अद्‌भुत रूप से उपस्थित करता है। रौद्र-भयानक आदि रसों का अन्तरभाव भी प्रधास रस की पुष्टि के लिए स्थान-स्थान पर किया गया है। उपमा, रूपक-अनुप्रास-श्लेष, यमक, अतिशयोक्ति-संदेह तथा विभावना आदि अनेक शब्द एवं अर्थबोधी अलंकारों के सहज प्रयोग से उनकी कविता में और भी अधिक सप्राणता एवं अर्थसंप्रेषणीयता आगई है। बीच-बीच में लोकोक्ति तथा मुहावरों के प्रयोग से कवि ने अपनी रचना को शक्तिवती करने का प्रयास किया है।

उपर्युक्त विवेचन का अभिप्राय यह भी नहीं है कि 'गांधीशतक' सर्वथा निर्दोष कृति है। क्योंकि कवि का जन्म स्थान इटावा प्रदेश का है अतः उसका ब्रजभाषा (सूर, घनानन्द तथा नन्ददास द्वारा प्रयुक्त) पर पूर्ण अधिकार नहीं है। ब्रजभाष में स्त्रीलिङ्ग तथा पुंल्लिङ्ग एकवचन क्रमशः इकारान्त तथा उकारान्त होते हैं परन्तु कवि ने खड़ीबोली के अनुसार ही उनका प्रयोग किया है—इस दृष्टि से यदि देखा जाए तो १०० कवित्तों की पुस्तक में कई-सौ त्रुटियां ढूंढ़ी जा सकती हैं, अनेक स्थलों पर कर्णकटु शब्दों का प्रयोग तथा छन्दोभंग दोष भी खटकने वाला है। प्रथम कवित्त में अन्त्यानुप्रास 'को' के स्थान पर 'कौं' होना चाहिए था। कवित्त संख्या २६-५५ तथा ५७ छन्दोभंगदोष के प्रमाण हैं। आशा है उपाध्यायजी इस रचना के अगले संस्करण में (जो कि कविता और विशेषतः ब्रजकविता का मार्केट डल होने के कारण असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है) इन त्रुटियों का परिहार करने का कष्ट अवश्य ही उठायेंगे। इस सबके अतिरिक्त कवि ने बीच-बीच में अंग्रेजी और उर्दू के शब्दों को भी, ब्रजभाषा में किए जाने वाले प्रयोगों के अनुरूप ही स्थान प्रदान किया है जिससे शैली में प्रभावापन्नता आगई है।

सब मिलाकर 'गांधीशतक' एक सुन्दर रचना है। प्रस्तुत कृति का महत्व न केवल ब्रजभाषा की रचनाओं के इतिहास में ही, प्रत्युत एक राष्ट्रीय कृति होने से भी हिन्दी के आलोचकों को स्वीकार करना होगा, ऐसी मेरी अपनी मान्यता है। कवि उपाध्यायजी (समालोचक नहीं) अपनी इस रचना के प्रकाशन में मेरी हार्दिक बधाई स्वीकार करें।

स्थितियाँ : अनुभव तथा अन्य कविताएँ—
कवि श्री राजेन्द्र किशोर
प्रकाशक :—श्री अजन्ता प्रेस (प्राइवेट) लिमिटेड, पटना-४
मूल्य :—२||)--पृष्ठ-संख्या ६७।

श्री राजेन्द्र किशोर की ३५-३ = ३२ कविताओं का संकलन 'स्थितियां : अनुभव तथा अन्य कविताएं' के शीर्षक से कुछ मास पूर्व प्रकाश में आया है। इस पुस्तक के आवरण पृष्ठ से लेकर अन्तिम पृष्ठ तक अनेक चौंका देने वाली उपलब्धियाँ पाठकों तथा समीक्षकों को मिलेंगी पर यह शर्त्त यह है कि पाठक प्रबुद्धचेता न हों तथा समीक्षक नई कविता के प्रति आग्रही न हों। अस्तु, प्रस्तुत पुस्तक की कविताओं को कई बार पढ़ने पर जो 'टोटल एफेक्ट' पाठकों पर पड़ सकता है उसका परिचय पुस्तक के आवरण पृष्ठ के चित्र से ज्ञात होता है। कविताएं पढ़ते समय पाठक की मुट्ठी बंध जाती है (भय से नहीं अपितु इस आशा में कि कुछ बहुमूल्य एवं सर्वथा नवीन तया मौलिक (?) की प्राप्ति होगी। किन्तु जब प्रथम कविता की भूमि से लेकर अंतिम कविता तक अनेक नदी-निर्झर-गिरि-कान्तार पार करता हुआ पाठक पहुँचता है तब उसकी मुट्ठी खुली की खुली रह जाती है, अर्थात् उसे कुछ भी नहीं मिल पाता। किशोरजी प्रयोगवादी खेमे के एक उदीयमान कवि हैं। इनमें भी अनेक वही विशेषताएं हैं जो कि इनके अन्य साथियों में हैं। आज के प्रायः सभी युवक प्रयोगवादी कवि मूलतः अच्छे गीतकार हैं परन्तु क्योंकि गीतरचना करने से वे, साहित्य को कोई नवीन वस्तु (?) नूतन सामाजिक परिप्रेक्ष्यों के सही चित्र तथा इतिहास की वृहत् परम्परा से टूटे हुए मुट्ठी भर लोगों के बौद्धिक आयामों का क्षितिज विस्तार--नहीं प्रस्तुत कर पाते हैं अतः विवश होकर उन्हें भी अज्ञेय-भारती-ग्रुप में दीक्षित होना पड़ता है। इस पुस्तक के कवि के साथ भी यही चोट है। राजेन्द्र किशोर तथा दुष्यन्त दोनों ही गीतकार थे (अब नहीं)।

प्रस्तुत संग्रह की कविताओं में से अधिकांश, कविताओं के रूप में लिखा गया नीरस--भावहीन गद्य है। एक ही साथ लोकभाषा संस्कृत भाषा एवं उर्दू-फ़ारसी के शब्दों का भौंड़ा मिश्रण इन कविताओं में है। स्थितियाँ : अनुभव (२) में कहीं भी कल्पनाओं एवं अनुभूतियों की सम्बद्धता नहीं मिल पाती। पहली दो पंक्तियों में बेहयाअभिसारिका की भाँति रात का चित्र है

तो आगे कवि का ध्यान बाजारू गीतों से तबियत बहलाने की ओर चला जाता है। इसी शीर्षक की चौथी कविता में कवि के पास बात तो कहने के लिए है किन्तु उसको प्रस्तुत करने में वह सर्वथा असफल रहा इसी कथ्य को यदि गद्य में लिख दिया गया होता तो इस रचना का मूल्य पर्याप्त कोटि तक बढ़ जाता।

प्रयोगवादी कविता पर यौनवर्जनाओं एवं दमित कुण्ठाओं की अभिव्यक्ति का जो आरोप लगाया जाता है वह "बदनामी की मौत" शीर्षक कविता पढ़ लेने पर बावन तोले पावरत्ती फ़िट बैठ जाता है। भले ही कुछ आलोचक यह कहें कि कवि ने यहाँ पर निम्न मध्य-वित्तीय मनोवृत्ति और तज्जनित घुटन का विश्लेषण किया है, परन्तु अपनी दृष्टि में तो यह कवि का केवल विकृत चिन्तन मात्र है। क्लर्क की लड़की का पड़ौसी के साथ भाग जाना तो कवि को अपनी ओर आकृष्ट कर सका किन्तु उसका ध्यान आज के क्लर्क वर्ग की परेशानियों की ओर नहीं जाता। उसने उन कारणों की ओर नहीं सोचा जिनकी परिणति इस दुरन्त रूप में हुई है।

'पहली तारीख' तथा 'पांच चुम्बन' इस संग्रह में दो उत्तम कविताओं को भी सौभाग्य से स्थान मिल गया है जिनमें कवि ने प्रगतिशील तत्व, रोमांस और संघर्ष सभी को एकत्र लाने की चेष्टा की है। किन्तु इन कविताओं में भी गठन की शिकायत है। 'एक आत्मकथा' में कवि ने प्रयोगवाद और उसके कवियों की मनस्थिति तथा उसकी प्रतिक्रियाओं की ओर संकेत किया है। 'पेड़ चाँद का' 'लेटी हुई रात' तथा 'अलविदा' में कवि ने प्रयोगवाद की आड़ लेकर काव्यकला के साथ जो भदेस खिलवाड़ की है उसे देख कर स्वाभाविक आक्रोश का तीव्र होना सर्वथा उचित ही है। यत्र-तत्र पाश्चात्य संगीत की सी ध्वनि ने तो उसकी विकृति में और भी चार चाँद लगा दिए हैं। यदि इसी का नाम कविता है तो पंत-निराला-बच्चन-नरेन्द्र तथा अंचल को अपनी कलम अपने घरों के डस्टबिन में तोड़कर फेंक देनी चाहिए। किशोरजी में एक स्थान पर जो आस्तिकता जागी है उसकी ओर जरा मुलाहिजा फरमाइये—

"हे प्रभु, मेरी आत्मा को रस दो।
सफर करने के लिए मोटर, तांगा, बस दो।
और यदि यह सब संभव न हो, तो सुनो,
मुझे किसी कद्दूकस में कस दो।"

पृष्ठ ४७

'तुम नहीं आई' 'प्रथम किरण प्यार की' 'पाती तुम्हें लिखूं तो कैसे' तथा 'बगुलों की पाँत' आदि कुछेक ऐसी अप्रयोगवादी कविताएं अवश्य अपेक्षाकृत सुन्दर बन पड़ी हैं जिनमें सफल सब्द चित्र, ध्वन्यात्मक योजना, नवीन उपमानप्रियता, सजीव प्रकृति चित्रण, प्रेम की व्यंजना एवं साथ ही स्वस्थ जीवन दृष्टि की झलक यत्र-तत्र मिल जाती है। इन्हीं कविताओं के कारण संग्रह का कुछ मूल्य संभाव्य है अन्यथा इस पुस्तक के लिए २॥) खर्च करने की अपेक्षा २॥) में रोने वालों को किराए पर बुलाकर उनका रोना सुनकर बाद में उनके रोने पर पश्चात्ताप कर लिया जाए तो अच्छा है। इस तरह के कविता संग्रहों की टैक्नीक पर अनेक लेखकों में पर्याप्त लिखा भी है अतः अधिक वाग्विस्तार की यहाँ गुंजाइश नहीं है।

आधुनिक साहित्य--लेखक श्री प्रतापनारायण टंडन। प्रकाशक—विद्यामन्दिर, रानी कटरा, लखनऊ मूल्य—४) पृष्ठसंख्या—१३६।

इधर कुछ दिनों में श्री प्रतापनारायण टण्डन की २-३ पुस्तकें प्रकाश में आई हैं जिनमें "आधुनिक साहित्य" तथा "हिन्दी साहित्य : पिछला दशक" आदि का नाम लिया जा सकता है। प्रस्तुत पुस्तक में टंडन जी के १८ निबन्ध संगृहीत हैं जिनमें व्यावहारिक, तुलनात्मक, सैद्धान्तिक तथा ऐतिहासिक (साहित्यिक) निबन्ध लिखे गए हैं। "हिन्दी साहित्य में गतिरोध का प्रश्न" तथा "सृजनात्मक ह्रास के कारण" इन दोनों निबन्धों को वस्तुत: मिला कर लिखा जाना चाहिए था। सृजनात्मक ह्रास के कारण ही साहित्य में गतिरोध का प्रश्न उठा करता है। लेखक की आलोचनात्मक दृष्टि प्रगतिशील रही है किन्तु वह सैद्धान्तिक

प्रगति में विश्वास नहीं रखता, वह प्रगति को एक मानवतावादी आधारभूमि पर प्रतिष्ठित करने के पक्ष में है जैसा कि हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा नन्ददुलारे वाजपेयी आदि समीक्षकों को भी अभिप्रेत है। वह प्रयोगवाद के प्रति भी दुराग्रही नहीं है। पाचवें-छठे तथा सातवें निबन्धों में लेखक ने पाश्चात्य साहित्य चिन्तन को प्रस्तुत करने का सत्प्रयास किया है। ८-६-१३ तथा १४ वें निबन्ध साधारण कोटि के हैं जिनमें पुस्तकों और उनमें लेखकों का नाम परिगणन अधिक कराया गया है तथा उन पर विवेचन कम किया गया है। "त्याग पत्र", "मैला आंचल" तथा वर्मा जी के कतिपय उपन्यासों का सारांश अधिकता से दिया गया है उनका शुद्धतः तात्त्विक अन्वीक्षण लेखक ने नहीं किया है। गीतिकार श्री जानकीवल्लभ शास्त्री एवं प्रयोगवादी कवि श्री गिरिजाकुमार माथुर की कविता पर लेखक ने अलग से दो निबन्ध लिखे हैं जिनमें कविताओं के उद्धरणों की तो भरमार है किन्तु विचार विश्लेषण की गहनता एवं व्यापकता देखने को नहीं मिलती। यद्यपि इस पुस्तक के अनेक निबन्धों को पढ़ने पर पाठक एवं समीक्षक इस निर्णय पर पहुँच जाते हैं कि लेखक की दृष्टि संकुचित नहीं है; न तो वह सर्वथा प्रगतिवादी ढंग की समालोचना करता है और न केवल प्रयोगवाद का ही ढिंढोरा पीटने वाला है। अनेक लेख इस प्रकार के हैं जिनमें दूसरों के अभिमत लेखक ने प्रस्तुत कर दिए हैं परन्तु अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने में वह हिचकिचाया है जैसा कि "प्रगतिवाद" शीर्षक निबन्ध से प्रतीत होता है। यही आरोप उनकी "पिछला दशक" शीर्षक कृति पर लगाया जा सकता है। हमारा लेखक को यह सुझाव है कि वह दूसरों के मन्तव्य को देने की अपेक्षा अपने दृष्टिकोण को परिपक्व-सप्राण एवं गम्भीर बनाने के लिए अपनी भावी पुस्तकों में प्रयास करे। मूल्य पुस्तक के देखते हुए अधिक है। सब मिलाकर यह एक परिचयात्मक-आलोचना-कृति है।

—देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र'

पेरिस की नर्तकी—(कहानी संग्रह)

लेखक—श्री विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक ; प्रकाशक—विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा ; मूल्य ३); पृष्ठ संख्या २३२।

'पेरिस की नर्तकी' कौशिक जी की चुनी हुई कहानियों का संग्रह है जिसका शीर्षक इसी नाम की कहानी पर रखा गया है। 'दुबेजी की डायरी' के यथार्थवादी व्यंग्यकार कौशिक इस संग्रह में उसी प्रकार आदर्शवादी कलाकार बन कर सामने आते हैं जिस प्रकार आदर्शवादी नाटककार 'प्रसाद' अपने 'कंकाल' जैसे उपन्यासों में यथार्थवादी बन कर प्रगट हुए थे। परन्तु कौशिक जी का यह आदर्शवाद यथार्थ की भूमि पर अपने कदम मजबूती से जमाये हुए है। उनकी कहानियाँ शुद्ध कल्पना से प्रसूत न होकर जीवन के कटु यथार्थ से उत्पन्न हुई हैं। इनमें न तो नवीन 'आयाम-विस्तार' वाली शैली को अपनाया गया है और न नवीन मनोविज्ञान की गुत्थियों की उलझनों को ही सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। इनमें हमें अपना दैनिक जीवन अपने प्रत्येक अंग के साथ सीधी-सादी भाषा और सरल शैली में बिखरा हुआ मिलता है।

कौशिक जी अपने समय के अत्यन्त जागरूक लेखक थे। उन्होंने जीवन का अध्ययन बड़ी गहराई से किया था और उनका यही अध्ययन विभिन्न कथाओं के रूप में मुखरित हो उठा है। इन कहानियों में हमारी राजनीति, देशभक्ति, परिवार, समाज, कलह, मित्रता, उदारता, नवीन शिक्षित नारी वर्ग, स्नेह, ममता, आदि से ओत-प्रोत जीवन बिखरा पड़ा है। मानव-जीवन से सम्बन्धित विषयों की इतनी विविधता प्रेमचन्द के उपरान्त कौशिक जी की इन कहानियों में ही उपलब्ध होती है। हिन्दी के विभिन्न कहानी-संग्रहों में कौशिक जी की प्रसिद्ध कहानी 'ताई' को संग्रहीत करने का लोभ कोई भी संग्रहकर्त्ता नहीं त्याग सका है। और 'ताई' हिन्दी कहानी साहित्य की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त कर चुकी है। परन्तु इस संग्रह की 'मोह' नामक कहानी अपनी संवेदनशीलता में 'ताई' से किसी भी अंश

में कम नहीं है।

'पेरिस की नर्तकी' फ्रांस के कुबेरपतियों के उस कुचक्र की कहानी है जिसके द्वारा उन्होंने केवल अपने वर्ग की अस्तित्व-रक्षा के निमित्त अपने देश को बर्बर जर्मनों के हाथ बेच दिया था और किस प्रकार देशभक्तों ने नर्तकी एएड्री को, जो एक जर्मन जासूस थी, गिरफ्तार कर इस षडयंत्र का भंडाभोड़ किया था। इस कहानी में पूंजीपतियों के देशद्रोही रूप का सच्चा चित्र देखने को मिल जाता है क्योंकि देशद्रोही केवल फ्रांस की ही बपौती न होकर संसार के प्रत्येक देश में समान रूप से पाए जाते हैं। 'परीक्षा' नामक कहानी में दो अभिन्न मित्रों की मित्रता की परीक्षा की गई है। जिसमें आदर्शवाद का पुट गहरा उभरकर आया है। 'होनहार' भी इसी कोटि की कहानी है जिसमें एक अनाथ बालक एकाएक एक अमीर का दत्तक पुत्र बन जाता है। 'बदला' घूसखोरों पर एक करारा व्यंग्य है। 'पाँच सौ एक रुपया' तथा 'अविद्या' में धनिक वर्ग की संकीर्णता एवं अन्ध श्रद्धा का सुन्दर सुन्दर चित्रण हुआ है। 'यौवन की आँधी' कला और वासना का सुन्दर द्वन्द्व उपस्थित करती है जिसमें एक कलाकार वासनात्मक प्रेम में पड़कर अपनी कला भूल जाता है। 'मोह' में एक गरीब बूढ़ा मजदूर, जो संसार में सर्वथा एकाकी रह गया है, एक पिल्ले के मोह में बंध कर उसे बच्चे की तरह पालता पोसता है तथा एक दिन मोटर की टक्कर से उसे बचाने के प्रयत्न में अपने प्राण दे देता है। 'पथभ्रष्ट' में पारिवारिक जीवन में पाई जाने वाली जिम्मेदार व्यक्तियों की गैरजिम्मेदारी से उत्पन्न विषमता और उसके दुखद परिणामों का अङ्कन है। 'अभिन्न' में दो मित्रों के मधुर प्रेम-सम्बन्धों का सुन्दर निर्वाह है। इसके अतिरिक्त अन्य कहानियों में जीवन के प्रेम, विवाह, कलह आदि का चित्रण किया गया है। प्रत्येक कहानी अपना एक विशेष सन्देश लिए हुए है। सर्वत्र आदर्शवादी परिणति उनमें एक अद्भुत सौन्दर्य तो अवश्य उत्पन्न कर देती है परन्तु संघर्ष की वह प्रेरणा नहीं उत्पन्न कर पाती जो प्रेमचन्द की कहानियों की विशेषता रही है।

कला, भाषा, शैली, कथावस्तु के निर्वाह आदि की दृष्टि से इस संग्रह की अनेक कहानियाँ अत्यन्त उच्चकोटि की मानी जा सकती हैं।

मूल्य और मीमांसा (निवन्ध-संग्रह)

लेखक—श्री विमल कुमार ; प्रकाशक-पुस्तकायन, मुंगेर ; मूल्य ४) पृष्ठ संख्या १६४।

'मूल्य और मीमांसा' श्री विमल कुमार के साहित्यिक-निवन्धों का संग्रह है जिसमें सैद्धान्तिक एवं विवेचनात्मक दोनों प्रकार के निवन्ध संग्रहीत हैं। इन निबन्धों को पढ़ने से यह विश्वास होता है कि लेखक में अपनी मौलिक चिन्तन-शक्ति पर्याप्त मात्रा में मौजूद है। सैद्धान्तिक निबन्धों में 'मूल्य की मीमांसा', 'जीवन दर्शन में परिवर्तन', 'साहित्य में सोद्देश्यता का प्रश्न', 'विषय और विधान' आदि निबन्ध माने जा सकते हैं। अन्य निबन्धों में से 'आचार्य शुक्ल और साधारणीकरण', 'तुलसी का दर्शन और दृष्टिकोण', 'छायावादी कवियों की सौन्दर्य चेतना' तथा 'हिन्दी कविता का भविष्य' विशेष उल्लेखनीय हैं। अन्य निबन्धों में हिन्दी साहित्य की कुछ विशिष्ट कृतियों का मूल्यांकन करने का प्रयत्न है जैसे 'कुरुक्षेत्र', 'रश्मिरथी', 'स्कन्दगुप्त' आदि।

सैद्धान्तिक निबन्ध लेखक के गम्भीर अध्ययन, मनन एवं सुलझे हुए दृष्टिकोण के प्रतीक हैं। लेखक का दृष्टिकोण सर्वत्र सन्तुलित और प्रमाणों से पुष्ट है। इसका कारण यह है कि लेखक पूर्वाग्रहों से सर्वथा मुक्त रहा है और उसने अपने विचारों को एक सर्वथा नए ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है जो स्पष्ट और हृदयग्राही है। 'आचार्य शुक्ल और साधारणीकरण' में लेखक ने शुक्ल जी पर किए गए आक्षेपों का बड़े संयम के साथ उत्तर देते हुए नगेन्द्र आदि आलोचकों के मन्तव्यों का निराकरण बड़े सशक्त ढंग से किया है। 'तुलसी का दर्शन और दृष्टिकोण' में तुलसी साहित्य के नवीन मूल्यांकन की समस्या को उठाया है जो 'समालोचक' के इसी अङ्क में प्रकाशित सूर-साहित्य सम्बन्धी अपने निबन्ध में डा० रामरतन भटनागर ने

उठाई है। हम दार्शनिक विचारों एवं तुलनात्मक अध्ययन के मोह में पड़कर अपने साहित्यकारों के साहित्य का उचित मूल्यांकन नहीं कर पाते। लेखक ने इसी समस्या की ओर आलोचकों का ध्यान आकृष्ट किया है।

'छायावादी कवियों की सौन्दर्य-चेतना' पर लेखक ने दो लम्बे-लम्बे निबन्धों में विचार करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि अपने अतिवादी दृष्टिकोण के कारण ये कवि अपने साहित्य में सप्राणता तथा स्पष्टता न ला पाए। लेखक का मत है कि—"सच पूछिए, तो छायावाद की सौन्दर्य-चेतना का विशिष्ट व्यक्तित्व (Identity) उसकी धूमिल अस्पष्टता में ही छिपा है। वास्तव में छायावादी कवि न तो रीतिकालीन कवियों की तरह मांसल अथवा शरीरी सौन्दर्य का सफलतापूर्वक अंकन कर पाए और न रहस्यवादियों की तरह उच्च धरातल पर परम सुन्दर (Absolute Beauty) को ही स्थापित कर सके।"

ग्रन्थ-विशेषों पर लेखक ने एक सर्वथा नवीन दृष्टिकोण से प्रकाश डाला है। 'कुरुक्षेत्र की विचार भूमि' में आधुनिक समस्याओं का सन्तुलित विवेचन हुआ है। अपने अन्तिम निबन्ध 'हिन्दी कविता का भविष्य' में लेखक ने 'नई कविता' अर्थात् प्रयोगवादी काव्य की विवेचना करते हुए इन कवियों के असामाजिक दृष्टिकोण की भर्त्सना की है तथा समष्टि रूप से हिन्दी कविता के भविष्य की उज्ज्वलता एवं समृद्धि के प्रति अपनी दृढ़ आस्था प्रकट की है।

लेखक का दृष्टिकोण सर्वत्र अतिवाद की सीमाओं से मुक्त रहा है। उसने एक तटस्थ दर्शक की भाँति, जो अपने को दिखाई देने वाले दृश्य का एक अभिन्न अंग भी मानता है, उपलब्धियों और न्यूनताओं का अत्यन्त सन्तुलित विवेचन किया है। भाषा एवं शैली की दृष्टि से केवल इतना ही कहना यथेष्ठ होगा कि यदि लेखक भाषा को सरल बनाने का प्रयत्न करता तो अधिक अच्छा रहता। अनेक स्थलों पर अनेक अप्रचलित क्लिष्ट शब्दों का ऐसा प्रयोग हुआ है जो न तो भाषा की शक्ति को बढ़ाते हैं और न उसके सौन्दर्य को।

संक्षेप में यह संग्रह उन कतिपय नवीन आलोचकों के लिए एक सुन्दर उदाहरण है जो इधर उधर से थोड़ी सी सामग्री बटोर कर और लम्बे-लम्बे विदेशी उद्धरण देकर पाठकों पर अपनी विद्वत्ता की धाक जमाने के प्रयत्न में लगे रहते हैं।

साहित्य-सन्देश—सन्त-साहित्य विशेषांक

सम्पादक—श्री महेन्द्र, प्रकाशक—साहित्य-रत्न-भंडार, आगरा। मूल्य १।।); पृष्ठसंख्या १२०।

सहयोगी 'साहित्य-सन्देश' का सन्त-साहित्य विशेषांक जौलाई-अगस्त अंक हमारे सामने है। मध्ययुग में भारतीय समाज को सन्तों ने सबसे अधिक प्रभावित किया था। हिन्दी भाषा में उपलब्ध सन्त-साहित्य अपनी क्रान्तिदर्शी विचारधारा एवं निर्भीकता के लिए प्रसिद्ध है। परन्तु सामाजिक एवं धार्मिक क्रान्ति की यह लहर हिन्दी भाषी प्रदेशों में ही व्याप्त न रहकर सम्पूर्ण भारत में फैल चुकी थी जिसका प्रमाण यह है कि लगभग सभी प्रान्तीय भाषाओं में रचित सन्त साहित्य की विचारधारा एवं समय में अद्भुत समानता है।

सन्त-साहित्य विशेषांक समग्र हिन्दी सन्त साहित्य के परिचय एवं मूल्यांकन के साथ-ही-साथ विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं में उपलब्ध सन्त-साहित्य का भी संक्षिप्त परिचय एवं मूल्यांकन प्रस्तुत करता है। प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य का हिन्दी वालों को अधिक से अधिक परिचय मिलना चाहिए, यह आकांक्षा सभी उदारमना हिन्दी विद्वानों की है और यह अंक इस आकांक्षा को केवल एक सीमा तक ही पूर्ण करता है। प्रान्तीय भाषाओं में प्राप्त सन्त साहित्य के ऊपर केवल परिचयात्मक और सो भी अतिपरिचयात्मक लेखों से काम नहीं चल सकता इसी प्रकार हिन्दी संत-काव्य के सम्बन्ध में बहु पिष्टपेष्टित सामग्री से भी काम नहीं चल सकता। फिर भी साहित्यसंदेश के इस विशेषांक में कुछ लेख अवश्य उल्लेखनीय हैं—

कौलमार्ग या कुलाचार, सिक्खधर्म का सामाजिक स्वरूप और सन्तमत और लोकतत्त्व।

'संतकाव्य' जैसे महत्त्वपूर्ण विषय पर इस विशेषांक के लिए सम्पादक व प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

लहर—मासिक (कहानी अंक)

सम्पादक—प्रकाश जैन ; सह-सम्पादिका-मनमोहिनी; प्रकाशक—लहर कार्यालय, अजमेर; पृष्ठ संख्या २१२।

सहयोगी 'लहर' का यह कहानी अङ्क कहानी साहित्य के विकास में एक सुन्दर प्रयास है। इस अङ्क की यह विशेषता है कि इसमें केवल कहानियाँ ही न होकर कहानी-साहित्य-सम्बन्धी आलोचनात्मक लेख भी हैं। साथ ही प्रत्येक कहानी लेखक की कहानीकला सम्बन्धी मान्यताएं तथा उनका संक्षिप्त परिचय भी प्रत्येक कहानी के प्रारम्भ में दे दिया गया है। कुछ विदेशी लेखकों की प्रसिद्ध कहानियों के अनुवाद भी दिए गए हैं जिनमें कुछ अनुवाद अत्यन्त सुन्दर हुए हैं जैसे 'रूसी लोक-साहित्य' परन्तु अंग्रेज़ी और अमेरीकन कहानियों के अनुवाद सुन्दर नहीं बन पड़े हैं। खलील जिब्रान की लघु कथायें स्थान-स्थान पर ज्ञान एवं मनोरंजन में पर्याप्त वृद्धि करती चलती हैं।

हिन्दी के प्रसिद्ध कहानीकारों में से बहुत कम की कहानियाँ इस संग्रह में आ सकीं हैं। यह कमी खटकती अवश्य है परन्तु दूसरी तरफ यह सन्तोष भी होता है कि कुछ नए कहानीकारों की कई सुन्दर, कलात्मक कहानियाँ अत्यन्त रोचक बन पड़ी हैं। सर्वश्री अमृतलाल नागर, कर्त्तारसिंह दुग्गल, लाडली मोहन आदि हिन्दी के ख्यातिनामा कथाकार हैं परन्तु इन सब की रचनाओं के होते हुए भी तरुण कथाकार श्री रमेश बक्षी की कहानी 'सफर''''अढ़ाई कोस का' मुझे इस संग्रह की सर्वश्रेष्ठ कहानी प्रतीत हुई। इस तरुण कलाकार से हिन्दी कहानी साहित्य को बहुत आशाएं हैं। सब मिलाकर 'कहानी अङ्क' अच्छे स्तर की सुपाठ्य सामग्री प्रदान करता है। इस प्रयत्न के लिए सम्पादक एवं प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

—राजनाथ शर्मा

प्राप्ति-स्वीकार

(१) **हमारे पड़ौसी**--लेखक--श्री भगवतशरण उपाध्याय, प्रकाशक--राजपाल एण्ड सन्ज, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६, मूल्य १।), पृष्ठसंख्या ६६।

(२) **कश्मीर में पंद्रह दिन**--लेखक--श्री विट्ठलदास मोदी, प्रकाशक--आरोग्य मन्दिर प्रकाशन, गोरखपुर, मूल्य १), पृष्ठसंख्या ८८।

(३) **दिल-बहलाव**-लेखक श्री रा० त्र्यं० रानडे, अनुवादक--श्री सुरेश निघोजकर, प्रकाशक--महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा, पुणें, मूल्य १), पृष्ठसंख्या ७७।

(४) **चार फरार**—कहानी, लेखक श्री यदुनाथ थत्ते, प्रकाशक--महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा, राष्ट्रभाषा भवन, नारायण पेठ, पुणें २, मूल्य ॥=), पृष्ठ-संख्या ४७।

(५) **पगली**—कहानी-संग्रह, लेखक--श्री द्वारकानाथ शर्मा, प्रकाशक--ज्ञानकुटी प्रकाशन, प्रयाग, मूल्य २), पृष्ठ संख्या १५६।

(६) **पेंटर बावरी**—कहानी-संग्रह, लेखक--श्री सत्यपाल आनन्द, प्रकाशक—साहित्य संगम, घन्टाघर, लुधियाना, मूल्य २॥), पृष्ठसंख्या १७१।

(७) **स्पर्धा**—बालकोपयोगी नाटक, लेखक श्री मस्तराम कपूर 'उर्मिल', प्रकाशक–हिन्दी–ग्रन्थ-रत्नाकर (प्राइवेट) लिमिटेड, हीराबाग, बम्बई-४, मूल्य १), पृष्ठसंख्या ७१।

(८) **विक्रम-भोज**--दो एकांकी, लेखक-डा० महेन्द्र भटनागर, प्रकाशक--दीनानाथ बुक डिपो, खजूरी बाजार, इन्दौर नगर (म. प्र.), मूल्य ॥), पृष्ठ-संख्या ४४।

प्रेरणा दायिनी रचनाएँ
१. देवकी का बेटा ३)
२. यशोधरा जीत गई ३)
३. लोई का ताना ३)
४. रत्ना की बात ३)
५. भारती का सपूत ३)
६. लखमा की आँखें ३)
७. धूनी का धूआँ ३)
८. जब आवेगी काल-घटा ३॥)
९. बौने और घायल फूल ३)
१०. बंदूक और बीन ३॥)
१. काव्य, कला और शास्त्र ३)
२. काव्य, यथार्थ और प्रगति ३)
३. समीक्षा और आदर्श ३)
४. महाकाव्य : विवेचन ३)
विनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटल रोड, आगरा

...ALOCHAK September, 1958. Single Copy 50 nP. Regd. No. ... 1215

डा. रामविलास शर्मा का

आलोचनात्मक साहित्य

विनोद पुस्तक, मन्दिर
हॉस्पिटल रोड, आगरा

प्रकाशक—भोलानाथ अग्रवाल मुद्रक—राजकिशोर अग्रवाल, कैलाश प्रिंटिंग प्रेस, बाग मुजफ्फरखाँ, आगरा